# साधना

राय कृष्णदास

२००३

ग्रन्थ-संख्या—४

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

चतुर्थ संस्करण
सं० २००३
मू० १)

मुद्रक
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

## परिचय

हमारा मानस शीघ्र ही क्षीरसागर की समता किया चाहता है। तुम्हारी करुणा-वृष्टि से वह प्रति दिन अपनी सीमा का विस्तार कर रहा है। हमारी एकान्त कामना है कि वह असीम हो जाय और पृथ्वी के पार्श्वों में लहराता हुआ उसे अपनी मर्यादा का विश्वास दिलाता रहे। संसार के ऊसर को वह सरस बनाये रहे, किन्तु उससे निराला रहे। ऐसा न होने से प्रलय की सम्भावना जो है!

जो हो, उसे भी आशा है कि तुम उसे अपनाने के लिए आ रहे हो। इसी से वह तरंगों के रूप में अपने बाहु तुम्हारे स्वागत के लिए बढ़ा रहा है। कम्बु-राशि के रूप में अपनी ग्रीवा उठा रहा है। शुक्तियों के रूप में अपने श्रवण खोल रखे हैं। उनमें मोतियों के आभूषण शोभित हो रहे हैं। और, कमलों के रूप में उसने अपने सहस्र सहस्र नेत्र तुम्हारी शोभा देखने के लिए उन्मीलित कर रखे हैं। हे परमपुरुष, तुम अपनी परा प्रकृति के साथ आकर उसकी आशा और अभिलाषा पूरी करो। उसे अपना निवास-स्थान बनाओ और ऐसा करो कि भावी सन्तानें उसे मथकर सदैव अमृतपान करती रहें।

अहा! वह देखो, उसके हृदय से प्रेमाग्नि का धूम उठ रहा है और एक कोने में मेघ का आकार धारण करके अपने अस्फुट किन्तु स्निग्ध निनाद से तुम्हारी अभ्यर्थना को व्यक्त करना चाहता है। वह मयूर उस आराव को सुनकर आनन्द से उन्मत्त हो नाच उठा है। क्या उस कृष्ण पयोद की गम्भीर ध्वनि तुम्हारे चरणों तक पहुँच न सकेगी? जो रस उसमें ओत-प्रोत भरा है वह भी केवल उसी के हार्दिक भावों से सम्पन्न है। इसी प्रकार उसमें दीप्ति की जो उज्ज्वल रेखा प्रकट होती है वह भी उसी की

साधना की स्फूर्ति है। क्या इस ज्योति से तुम्हारे अनन्त पथ पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है?

इस बात को तुम्हीं जान सकते हो। यह कृपण प्रसाद न यह कहने का साहस करता है, न करना चाहता है, न कर सकता है। और न उसे इस बात का अभिमान है कि उसकी सृष्टि से हमारे मानस की सीमा का विस्तार होगा; अथवा वह ज्ञान का उद्घाटन करके दर्शनों का उद्धार करेगा। यह तो तुम्हारी करुणा-भक्ति का ही काम है। हाँ, यदि उस पात्र के द्वारा भी तुम्हारी करुणा के दो-चार कण बरस गये तो यह भी कृतकृत्य होकर अपने को धन्य समझेगा।

तब यह चाहता क्या है? केवल यही कि सावन और भादों के साथ अनुरागी चातक भी उसकी आकांक्षा की पूर्ति के लिए एक बार आकाश को गुँजा दे—"पी कहाँ" कहकर तुमको पुकार उठे और उसकी यह वारि-धारा तुम्हारे पाद के लिए निरन्तर अपना जीवन अर्पण करे। इसी में उसकी सार्थकता है।

और? बस।

चिरगाँव
जन्माष्टमी, '५४

मैथिलीशरण गुप्त

# सूची

श्रीहरिः

# साधना

## प्रार्थना

अपने पद-पद्म-पराग में मुझे अपने घट का नित्य मार्जन दे और उसके मधु-मकरन्द में इसे पूर्णतया भरने दे; यही एक मात्र प्रार्थना है।



सा० २

# साधना

हे नयनरञ्जन नीरद, तू सन्तप्तों को शीतल करने के लिए अपने आपको बरस देता है। यह तन की साधना मैं तुझसे सीखता हूँ।

हे मानस, तू निरन्तर मोती के समान उज्ज्वल, निर्मल और स्वच्छ तरंगें उठाया करता है, जिनके सुख में मग्न होकर सुवर्ण-सरोज झूमा करते हैं और निरन्तर तुझे मकरन्द दान देते रहते हैं। तू उसे सादर ग्रहण करके फिर उन्हीं के समूल नाल पुष्ट करने में प्रयत्न करता है। जब समस्त सर पंकिल और राजहंस विकल हो उठते हैं तब उन्हें तेरे सिवा कौन आश्रय दे सकता है? यह मानसी साधना मैं तुझसे सीखता हूँ।

हे पादप, फलों के बोझ से तू झुक जाता है और तेरी शाखें टूटने-सी लगती हैं। पर तू अपना नियम नहीं छोड़ता। क्योंकि बुभुक्षितों को तृप्त करके उनकी आँखें खोलना तेरा प्रण है। बुद्धि की सफलता भी यही है। और, इसे मैं तुझसे सीखता हूँ।

चातक, तू अपनी ज्वलन्त कामनाओं को सब ओर से एकत्र करके एक स्वाति की बूँद पर लगाता है और तू अपनी धुन का इतना पक्का है कि साल भर उसी की रट लगाये रहता है और उसी एक बूँद से अमृत पान के समान छक जाता है। तेरी उस पर इतनी अनुरागमयी प्रबल कामना है कि तू उसमें मिल कर अपने अहम्भाव का अभाव नहीं कर देता। वरन केवल इसीलिए आत्मभाव बनाये रखता है कि निरन्तर उसकी चाह और व्यथा के आनन्द का रस लूटा करूँ। यह अहम्भावमयी साधना की साधना मैं तुझसे सीखता हूँ।

और मेरी इन सब साधनाओं का उद्देश्य क्या है? एक मात्र यही कि मैं आनन्द को सिद्ध कर लूँ।

## सेवा

तेरी सेवा ही में मुझे अकथ, अतुल और अनन्त आनन्द है।

मैं कदापि स्वतन्त्र नहीं होना चाहता। न अपनी सेवा के बदले कुछ चाहता हूँ।

स्वतन्त्रता की निरंकुशता और उच्छृंखलता के दुःखों को मैं जानता हूँ और उनसे बहुत डरता और दूर भागता हूँ।

तेरी सेवा में मुझे जो गर्व तथा आनन्द प्राप्त होता है वही इतना है कि मैं उससे फटा पड़ता हूँ; फिर मुझे बदले की अपेक्षा कहाँ?

अपनी सेवा से मुझे न हटा, न मुझे उसमें भेदभाव करने दे।

## रहस्य

क्या तेरी सत्ता इसी में है कि मैं अपने ही को क्षणभंगुर, मायाजाल और मिथ्या मान लूं?

क्या तेरी चेतनता यही है कि तू अपने ही को मन और जड़ समझ कर अपने ही से दूर भागे?

क्या तेरे आनन्द का ऐसा ही रूप है कि तू अपने भावों में अपने ही को खो बैठे, रूप और दुःख के जाल में फंसा रहे, न अपने को समझे?

हे सच्चिदानन्द, मुझे समझा दे कि इसमें क्या रहस्य है और इसका क्या अर्थ है?

# कुटी और प्रासाद

कुटी बनाने के लिए मुझे कोई कष्ट न सहना पड़ता था। इसी घास में मिट्टी और घास-फूस लेकर उसे बना डालता।

पर बरसात उसे अपने साथ बहा ले जाती। मुझे शान्ति का मधुर स्वप्न देखते हुए अशान्ति की भयंकर मूर्ति का सामना करना पड़ता।

अब मैं गहरी नींव देकर प्रासाद बना रहा हूँ। इसमें कला और कुशलता की चरम सीमा का अतिक्रमण किया जा रहा है। इसके लिए मुझको अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि मैं अथाह अशान्ति में पड़ा हूँ। पर इसी कष्ट और अशान्ति में मुझे शान्ति और आनन्द का अनन्त स्रोत मिलेगा, प्राणेश के संग इसी में तो नित्य विहार होगा।

यह प्रासाद कुछ ऐसा थोड़ा ही बनेगा कि प्रकृति उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दे।

# भूल

मैं समझता था कि जिस प्रकार रंग बिरंगे खिलौने देकर माता-पिता पुत्रों को प्रसन्न करते हैं उसी प्रकार तूने भी यह विचित्र सृष्टि हमको दी है।

फिर तू इससे मुझे अलग क्यों करता है? क्या खिलौने छीनकर लड़के विकल किये जाते हैं?

या मैं भूल रहा हूँ? इससे छुड़ा कर तू मुझे अपनी छाती से लगा कर चूमना चाहता है। वह सुख—जिसके लिए लड़के खिलौनों को स्वयं फेंक देते हैं।

# निर्गुण वीणा

अनन्त काल से तुम्हारे बजाते रहने से इस वीणा के गुण ढीले पड़ गये हैं। सो अब यह बेसुरी बजती है और उल्टा तुम्हारे बजाने की योग्यता पर संशय करती है!

प्रभो, इसके गुणों को कस दो, जिसमें यह सुर में बजे और इसका झूठा संशय जाता रहे।

नहीं, नहीं, ऐसा न करना। इसके गुणों को दूर बहाओ जिससे उनके ढीले पड़ने का प्रपञ्च एवं इसके मिथ्या संशय का कारण ही जाता रहे और, यह निर्गुण भाव से नीरव लय का नित्य विस्तार करे और कृतकृत्य हो।

## लज्जा

जब मैं देखता हूँ कि तुम्हारे मन्दिर को मैंने ऐसा अशुचि और अस्वच्छ कर रक्खा है तब मैं लज्जित हो जाता हूँ। परन्तु जब मैं देखता हूँ कि तुम उसी में प्रेमपूर्वक विराज रहे हो तब तो मैं लज्जा से डूब ही जाता हूँ।

जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे लिए सब कुछ करते हो और मैं तुमसे मुँह मोड़ता हूँ तब मैं लज्जा से नतशिर हो जाता हूँ। परन्तु जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरी उसी अवस्था में मेरे पास आते हो और उलटा मुझको ही मनाते हो तब तो . . . ।

जब मैं देखता हूँ कि लज्जा के कारण मैं अपने भाव तुमसे छिपाता हूँ तब मैं और भी लजा जाता हूँ। परन्तु जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे उन भावों को जान गये हो तब तो मेरी लज्जा का पारावार ही नहीं रहता!

## स्वप्न मात्र

हे प्रियतम, इसका क्या कारण है कि तुम स्वप्न में ही मेरे पास आते हो और मुझे रिझाते हो, परन्तु ज्योंही मैं तुम्हें देखना चाहता हूं, तुम आभा की भांति ओझल हो जाते हो।

हे प्रियतम, इसका क्या कारण है कि तुम स्वप्न ही में मेरे पास आते हो और अपना संगीत सुनाने लगते हो, पर ज्योंही वह मेरे कानों में पैठने लगता है, तुम मुझे गम्भीर निद्रा में निमग्न कर देते हो?

हे प्रियतम, इसका क्या कारण है कि तुम स्वप्न ही में मेरे पास आते हो और मुझे आलिंगन करने के लिए हाथ फैलाते हो, पर ज्योंही मैं तुम्हारी ओर दौड़ता हूं त्योंही शरद्-घनखण्ड की भांति न जाने कहां विलीन हो जाते हो?

हे प्राणेश, क्या मैं इसका यही अर्थ करूं कि तुम मुझे प्यार नहीं करते? पर जब तुम स्वप्न में मुझ पर इतनी दया दिखाते हो तब यह कैसे हो सकता है?

हां, क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि मैं समझ लूं कि मैं सत्य हूं और तुम मेरे स्वप्न मात्र हो?

# साहस

हे मेरे दयालु स्वामी, तुम यह न समझना कि मैं तुम्हारा मार्ग रोकने के लिए पड़ा हूँ। मैं तो बस इसलिए पड़ा हूँ कि तुम मुझे पददलित करते हुए चले जाओ और जिस प्रकार फल के संघर्ष से खेत उर्वर हो जाता है उसी प्रकार यह क्षेत्र भी उर्वर हो जाए।

हे मेरे दयालु स्वामी, तुम यह न समझना कि अपमान के लिए मैं तुम्हारे मार्ग में सो रहा हूँ। वह धूल से भरा है और तुम आ रहे हो, इसलिए मैं उसे सींच रहा हूँ। जिस भाव से पथिक उस मेघ को देखता है जो फुही बरसा कर धूल बैठा देता है उसी भाव से तुम मेरी ओर देखते हुए चले जाओ, इसी आशा से मैं उसे सींच रहा हूँ।

## व्यर्थ की खोज

भला मैं दूसरे को क्यों खोजूं ? तुमसे बढ़ कर मुझे और कौन मि
सकता है ? सौन्दर्य का पारखी और आदरकर्ता तुमसे बढ़ कर कौन है

जिसे मैं तक अपना क्रन्दन समझता हूँ उसे तुम गान का मधुर आला
पाते हो और तन्मय होकर सुनते हो।

जिसे मैं तक अपना स्वार्थ और क्षुद्रता समझता हूँ उसे तुम परमा
और गम्भीरता सिद्ध कर देते हो और मुझे नतशिर तथा अवाक् होव
हार माननी पड़ती है।

जिसे मैं तक अपनी कुरूपता या कुरुचि मानता हूँ उसे तुम सौन्द
की वाटिका बतलाते हो और स्वयं उसके माली बन कर उसे सँवार
हुए, नन्दन-कानन बना देते हो।

जिसे मैं तक अपनी चञ्चलता और उन्माद जानता हूँ उसे तुम मेर
प्रतिभा और हाव-भाव मानते हो एवं उसका आनन्द लेते हुए, स्वयं मु
आनन्दित करते हो।

फिर भला मैं मरे को क्यों खोजूं ?

## सहारा

जिस भाँति नाल के सहारे कमल जल पर मुस्कराया करता है उसी भाँति तुम्हारे सहारे मैं यहाँ पर हूँ।

कमल का आमोद, पराग, मकरन्द और सौन्दर्य उसके नाल का कारण नहीं। यदि नाल का सहारा न हो तो सब कहाँ का कहीं हो जाय। यही नहीं, इन सब का मूल कारण भी वही है। इसी प्रकार तुम भी मेरी स्थिति और मेरे सर्वस्व के निमित्त कारण हो।

फिर भी, पानी में नाल की भाँति, तुम न जाने क्यों छिपे रहते हो और, कमल-सदृश मेरे दिखाई देने के कारण बनते हो।

# अनुराग-विराग

जब मैं कोई फूल देखता हूँ तब मेरा हृदय तुम्हारा गुण गाने लगता है। एक छोटे से फूल को तुमने कितने प्रेम से बनाया है। उसमें कितना सौन्दर्य भर दिया है और उसे कितनी सजीवता प्रदान की है। मैं उसे देखते देखते उसको तथा अपने को भूल जाता हूँ और तुम्हीं तुम रह जाते हो! अहा! तुम्हारी बातें भी कैसी निराली हैं। तुमने दया के मारे अपने मिलने के कितने द्वार बना दिये हैं।

पर यह कौन है जो आकर मुझे चौंका देता है और मुझे डराता है? वह कहता है कि—"हट, भाग। यह विश्व तो माया का जाल है, इसमें फँसकर तू नष्ट हो रहा है। इससे बच। यह ठगिनी तो तुझे उनसे दूर लिये जा रही है जो सब जगह हैं।"

कैसी उलटी बात है। जब सब जगह तुम्हीं हो तब कोई तुमसे दूर कैसे जा सकता है? और यदि कुछ काल के लिए उसी की बात मान लें कि यह विश्व माया का जाल है, तब भी तो इससे बाहर जाने का उपाय नहीं।

हे नाथ! यह वाटिका तुम जिसके माली हो और जिस पर तुम्हारा इतना वात्सल्य है कि इस पर [illegible] उसके ऊपर छोड़कर तुम इसको [illegible] से बढ़कर कौन पाप, अनर्थ और नीचता होगी!

क्या स्वयं वही जड़ माया के फन्दे में नहीं फँसा है, जो उसे सर्वत्र माया ही माया दीख पड़ती है?

# प्रेम की प्रबलता

तुम उस पार हो मैं इस पार। बीच में अपार पारावार है। तो भी मैं तुमसे मिलने के लिए अपनी टूटी-फूटी डोंगी छोड़ देता हूं। मुझे भय नहीं।

भय की परिधि संकीर्ण है, प्रेम की विस्तृत। वह इसमें समा जाती है। जिस प्रकार सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से देखने से दृश्य-वस्तु और ही रूप में दीख पड़ती है इसी प्रकार प्रेम की दिव्य दृष्टि से ये सब पदार्थ रूपान्तरित रूप में दिखाई देते हैं। भय का अन्त लौकिक अवलोकन के साथ हो जाता है।

मेरी डोंगी आगे बढ़ती जाती है। वे ही लहरें जो बड़े बड़े पोतों को डुबा देती हैं, मेरी डोंगी को थपकियां दे देकर बढ़ा रही हैं और प्रतिक्षण तुम्हारी दूरी मुझसे दूर होती जाती है।

# मोहन

सन्ध्या को जब दिन भर की थकी माँदी छाया वृक्षों के नीचे विश्राम करती है और पक्षिगण अपने चहचहे से उसकी थकावट दूर करते हैं तथा मैं भी श्रान्त होकर अपना शरीर भार पटक देता हूँ तब तुमने, मधुर गान गुनगुना कर मेरा श्रम दूर करके, और मेरे बुझे हृदय को प्रफुल्लित करके, मुझे मोह लिया है।

वर्षा की रात्रि में जब प्रकृति अपने को सारे संसार से छिपा कर सम्भवतः अभिसार करती है तब तुमने मृदंग के घोर में मेरी ही हृदय-गाथा सुना सुना कर मुझे मोह लिया है।

जब शान्तिवसना कुमुद-मालिनी प्रकृति पर चन्द्र अमृत बरसाता है और मैं विशाल दृगन्तर की ओर देखता देखता अपने ज्ञात विचारों में अज्ञात हो जाता हूँ तब तुमने मुझे अपनी बंसी के तानतरंग के पीयूष से प्लावित करके मोह लिया है।

प्रातःकाल, जब सूर्य अपने राग से कमल-वन को तथा पक्षिगण अपने राग से स्तब्ध प्रकृति को जगाते हैं तब तुमने भी अपने राग से मेरे हृत्कमल और प्रकृति को जगा जगा कर मुझे मोह लिया है।

## संगठन

हे नाथ, मुझे पूर्ण, अगाध और अनन्त सागर बना दो। मुझमें नित्य आनन्द की तरंगें उठा करें और मैं अपनी असीम सीमा में बंधा रह कर स्वतन्त्रता से कल्लोल किया करूँ।

नद-नदियाँ जो कुछ मुझसे मिलें, मुझमें लीन हो जावें। पर मेरा स्वरूप ज्यों का त्यों रहे, सदा ग्रहण के निरन्तर ग्रहण में भी मेरी पूर्णता, अगाधता और अनन्तता किंचित्‌मात्र कम न हो।

हे पार्वण चन्द्र, जब तुम अनुराग-पूर्ण होकर मेरे ऊपर उदित हो तब हर्ष और अभिमान से मत्त होकर मैं फूला न समाऊँ और उज्ज्वल हास्य हँसता हुआ नाचने लगूँ तथा तुम्हारे कोमल करों से रंजित बेला को प्रेम-विह्वल होकर बार बार चूमने लगूँ।

प्रभो, मुझे रत्नों का आकर बना कर अपने लावण्य से भर दो।

# आनन्द-गीत

मेरे गीत आनन्द-सौरभ से बसे हुए हैं।

तुम्हारे पाद-पल्लव के स्पर्श से मेरा मन-अशोक लहलहा कर फूल उठता है और उसके बोझ से नत होकर आनन्दामोद बगराने लगता है। वह आमोद, जिससे मैं स्वयं मस्त हो जाता हूँ।

तुम्हारा नख-चन्द्र देखकर मेरा मानस, रत्नाकर हो जाता है और अखण्ड आनन्द के गीत गाने लगता है। और तुम्हारी कृपा का क्या कहना। तुम उस पर पीयूष वर्षण करके उसे अमृतमय बना देते हो।

मित्र, भला जब तुम अपने करों से मेरे हृत्कमल को खोलते हो तब वह कैसे न खिल कर आनन्द-मरन्द बहावे और सारे सर को उसमें मग्न कर दे।

ऋतुराज, तुम कुसुमों के कोष और सौरभ के सागर से सज कर मेरे मनःपिक से मिलते हो। फिर वह आनन्द से पागल होकर पञ्चम-गान की धुन बाँध के अपने प्राण की पर्युत्सुकता को पंख दिये बिना कैसे रह सकता है?

मयूर तो मेघ को विलोक कर केवल इतना ही प्रसन्न होता है कि उसको अपने नृत्य और गीत से प्रकट कर देता है। पर इसका आनन्द इतना अपार है कि अपने गीत के नृत्य से उसका कुछ परिचय देने की चेष्टा करके वह अपने को धन्य धन्य समझता है।

## प्रकृति और कला

मैंने तुम्हें अपनी प्रकृति अर्पित कर दी है। तो भी मैं तुम्हारे पास अपने प्राकृतिक रूप में नहीं आता। मैं सजकर तुम्हारे पास आता हूँ। क्या लोकलज्जा से? नहीं; कला के सहारे मैं तुम्हें और भी मोहित करना चाहता हूँ।

परिणाम उल्टा होता है। तुम मेरी ओर तो ध्यान नहीं देते, उसी के देखने में लीन हो जाते हो। और उसी की आलोचना में समय बीत जाता है।

हे प्रियतम, अब मुझे अपना मिथ्या-विश्वास मालूम हो गया। अब मैं तुम्हारे पास निर्लज्ज होकर आऊँगा। तुम मेरा प्रकृत रूप देखो और उसी की आलोचना करो।

## प्रेम-परिचय

जब मैं तुम्हारे सामने नाचने लगता हूँ तब तुम मेरी ओर एकटक देखते हुए मुझ पर सुधा बरसा कर मुझे ऐसा मस्त क्यों कर देते हो कि मेरी गत बिगड़ने लगती है और मेरे पैर ठीक नहीं पड़ते। क्या तुम्हें इसी में सुख मिलता है?

तुम्हारा चेटक कैसा विलक्षण है कि मैं तो तुम्हें मोहित करने को नाचता हूँ पर तुम उलटा मुझे ही मोहित करके अपना मनमाना नाच नचाते हो!

मैं समझा। मुझ पर तुम्हारा प्यार मेरे प्रेम से कहीं बढ़ा हुआ है। इसी से तुम मेरा मन बार बार अपनी ओर खींच लेते हो।

पर, हे प्रियतम, इसकी क्या आवश्यकता? मैंने तो तुम्हें आत्म-समर्पण कभी का कर दिया है। बस अब तो—मुझे छाती से लगा लो।

## आकांक्षा

हे नाथ, मेरी बुद्धि को ऐसा स्वच्छ दो कि मैं धूमिल गाँवों में मोद और दुखियों में सुख पाऊँ।

हे नाथ, मुझे वह बल दो कि मैं निर्बलों का नाथ हूँ।

हे नाथ, मुझे वह दृष्टि दान करो कि मैं नीचों को ऊँचा देखूँ।

हे नाथ, निर्धनों को मेरा धन बनाओ और—राजाओं का नहीं—दरिद्रों का मुझे सेवक बनाओ।

हे नाथ, मुझे परमार्थियों का अधीन बनाओ।

साथ ही हे नाथ, मुझे वह गर्व भी दो जिसके कारण तुम हो।

## कृपालु कर्णधार

हे मेरे नाविक, यह कैसी बात है कि जब मेरी नाव मँझधार में थी तब तो तुम्हें हटा कर मैंने डाँड़ ले लिए थे और सगर्व तुम्हारे आसन पर आसीन होकर बड़ा भारी खिवैया बन बैठा था। पर जब वह धार से पार होकर गम्भीर जल में पहुँची तब मैं हार कर उसे तुम्हारे भरोसे छोड़ता हूँ।

तब तो नाव धार के सहारे बह रही थी, खेने की आवश्यकता ही न थी। इसी से मेरी मूर्खता न खुली। पर अब? अब तो इस गम्भीर जल में चतुर नाविक के बिना और कौन नाव निकाल सकता है?

परन्तु मैं तुम्हारी बड़ाई किस मुख से करूँ! तुम मेरी मूर्खता और अभिमान तथा अपने अपमान की ओर नहीं देखते और सप्रेम डाँड़ लेकर नाव किनारे की ओर चलाते हो।

# अस्थायित्व में स्थायित्व

तुम खड़े देखते हो और मैं अपनी क्रीड़ा में मग्न रहता हूँ। तुम्हारी ओर ध्यान ही नहीं देता। परन्तु तुम मुझे छोड़ते नहीं।

मेघ-वृन्द अमृत बरसाता है और पृथ्वी रसभरी हो जाती है। चातक तथा कोकिल गान की होड़ करते हैं, जिसमें पुलकित होकर कदम्ब उनका गान संवहन करने वाले पवन को सुरभित कर देता है।

दिन बीतता है, रात होती है। फिर भगवान् अंशुमाली धरा को अपने अंशुओं का अंशुक पहनाते हैं। पुनरपि रजनी चराचर के विश्राम के लिए अन्धकार-मिस निद्रा की चादर उढ़ा देती है।

प्रकृति अपने काम को नहीं छोड़ती। मैं अपनी धुन में मग्न हूँ और तुम मेरे संग रहने में पक्के हो।

अचानक प्रतिघात होता है और मैं अपनी क्रीड़ा में विरत होता हूँ। तब मैं क्या देखता हूँ कि तुमने मेरे उन्हीं क्षणिक खेलों की एक दृढ़ और नित्य शृंखला बना दी है जिसकी हर कड़ी पर तुम्हारी छाप है।

मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं रहता।

## आतुरता

मुझे तुम्हारे पास पहुँचने की जल्दी भी पड़ी है और मैं तुम्हारे मंदिर के मार्ग पर कब से चल भी रहा हूँ। फिर भी मैं तुम्हारे पास अब तक पहुँचा नहीं।

इसका कारण है। औत्सुक्य के मारे मैं बार बार पीछे फिर कर देखने लगता हूँ कि कितनी राह कटी और इसमें समय नष्ट होता जा रहा है।

परन्तु इसमें एक उपकार हुआ। ज्यों ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों मेरी विह्वलता भी बढ़ती जा रही है। अब मुझसे एक क्षण भी तुम्हारे बिना रहा नहीं जाता। लो, मैं अपनी आँखें बन्द करके तुम्हारी ओर बढ़ता हूँ।

## संसार की भूल

संसार मुझ पर हँस रहा है कि तुम उसकी तुलना प्रकृति से करते हो और प्रकृति के सहारे उसे पाना चाहते हो!

हे नाथ, बताओ तो इसका उत्तर मैं क्या दूँ? क्या मैं यह नहीं कह सकता कि यह प्रकृति है किसकी। विश्व किसकी विराट् मूर्ति है। फिर तो, यदि मैं तुम्हारी तुलना तुम्हीं से करता हूँ और तुम्हारे ही सहारे तुम्हें पाना चाहता हूँ तो क्या भूल कर रहा हूँ।

प्रभो, बतलाओ तो इससे इतर और कौन अवस्था हो सकती है? जब तुम स्वयं अपनी प्रकृति में छिपे हो तब हम कैसे उससे निकल सकते हैं?

हे अखिलेश! यह भी तुम्हारी लीला है कि संसार के हृदय में यह भावना उत्पन्न करके उसे बे राह की राह पर लगा देते हो।

## कच्चे घट में अमृत

तुम अमृत को बार बार कच्चे घटों में भरते हो और मैं उन्हें गलते देखता हूँ।

मुझे अचरज होता है कि अमृत के पात्र बनकर भी वे क्यों नष्ट होते हैं और मैं पुकार उठता हूँ कि तुम्हारा अमृत झूठा है।

तुम कुछ बोलते नहीं और मैं समझता हूँ कि तुम निरुत्तर हो गये।

पानी बरसने में मैं मिट्टी को गलते देखता हूँ। पर वही गली मिट्टी जब हरी हो आती है तब मेरी आँखें खुलती हैं। मैं जो उन गले हुए घटों की ओर देखता हूँ तब मुझे मालूम होता है कि उनके प्रत्येक कण ने धँस कर सुधा में भी अमरता प्राप्त की है।

## बन्धन की आवश्यकता

यह न कहो कि मृदंग भीतर से शून्य है। इसमें अनन्त संगीत भरा है।

कैसी विचित्र इसकी बनावट है। एक खोखले काष्ठ-खण्ड पर दोनों ओर चमड़ा मढ़ा है, और वह गुणों से भलीभाँति जकड़ा है।

तुम्हारी थपकियों से कै बार इसने संसार को मोहित नहीं किया और कौन ऐसा मधुर गीत है जो इससे नहीं निकला?

किन्तु जब तुम कस रहे हो। कहीं इसके गुणों को न निकाल डालना। नहीं तो यह किस काम का रह जायगा। इन्हीं में बंधे रहने से तो यह अपनी मर्यादा में स्थित है।

# आत्म-रक्षा

मैं अपने प्राणों की प्रेम पूर्वक रक्षा कुछ इसलिए नहीं करता कि मुझे पुनः मिलने की आशा है। तुम्हारा आना तो निश्चित है, फिर आशा कैसी?

वरन् यह मेरा ममत्व इसलिए है कि मैं उन्हें तुम्हारे अर्पण कर चुका हूँ और वे तुम्हारी वस्तु हैं।

अतः मैं भी इस भाँति उनकी रक्षा करता हूँ।

तुम जब लौटकर आकर अपनी धरोहर माँग बैठोगे तब तुम्हें मेरा प्रेम और परिश्रम प्रकट होगा।

# केवल तुम्हीं

जब तुम मेरे पास आये तब मैं तुम्हारे लिए बिलकुल तैयार न था, पर तुमने उस पर ध्यान न दिया और मेरे पास बैठ गये।

मैं अपनी झंझटों में फँसा था सो मैंने तुम्हारी ओर देखा भी नहीं किन्तु तुम मुझे जिस उपकरण की आवश्यकता होती, देते जाते।

मैं अपनी धुन में मस्त था।

सन्ध्या के समय शारीरिक श्रान्ति के कारण—कुछ मानसिक शान्ति से नहीं—मैं कामों से विरत हुआ।

कितने ही अन्तरंग मित्रों को मैंने बिठा रक्खा था। काम से निवृत्त होने पर उनसे वार्तालाप करने को कहा था। सोचा था कि जी बहलेगा। पर देखा कि वे सब के सब चल दिये। उनमें इतना धैर्य कहाँ! रहे, एक तुम्हीं! धन्य!

मैं गद्गद् होकर तुम्हारे चरणों में लोटने लगता हूँ और अपनी चिन्ताओं को चिरकाल के लिए भूल जाता हूँ।

## सफल-काम

तुम्हारे कर-कमल-युगल अहर्निश मेरे ऊपर दान-वर्षा कर रहे हैं। अब भी मुझमें कामनाएँ कहाँ से रह सकती हैं।

तुम्हारे पद-अशोक को मैं सिर पर लिये चलता हूँ। इससे मुझमें शोक नहीं रह गया।

मैंने अनन्तकाल से इस मानस को पंकिल बनाया था कि तुम्हारे पद-पंकज इसमें विकसित हों। आज वह अर्थ सिद्ध हो गया और उनके राग से वह रंजित हो रहा है।

नयनों में नीर इसलिए बहाया था कि उनमें तुम्हारा वदन-वारिजात प्रस्फुटित हो। आज वह लालसा पूर्ण हुई और अब मैं निरन्तर उन्हें आनन्दाश्रुओं से सींच रहा हूँ।

## क्रय-विक्रय

जिन मणियों को मैंने बड़े प्रेम से कृत्याकृत्य, सभी कुछ करके संग्रह किया था उनको उन्होंने मोल लेना चाहा। यदि दूसरे ने ऐसा प्रस्ताव किया होता तो मेरे क्षोभ का ठिकाना न रहता। अपने शौक की चीज बेचनी ? कैसी उल्टी बात है। पर न जाने क्यों इस प्रस्ताव को मैंने आदेश की भाँति अवाक् होकर शिरोधार्य किया।

मैं अपनी मणि-मञ्जूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौन्दर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा।

अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई।

उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे ? मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्वपूर्वक कहा—अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने दूसरी मणि उनके आगे रक्खी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिए। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा ? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो।

मैंने सहर्ष आत्म-अर्पण किया। तब वे खिलखिला कर आनन्द से बोल उठे—तुम मुझे मोल लेने चले थे न ?

मैं गद्गद् हो उठा। आज परम मंगल हुआ; जिसे मैं अपनाना चाहता था उसने स्वयं मुझे अपना लिया।

## वास्तविक मूल्य

मेरी वस्तुओं को वे मुँहमाँगे दामों पर ले जाया करते और मैं नित्य मन मसोसकर छोड़ता।

सभी मेरे भाग्य की सराहना करते। पर किस भाव से, कह नहीं सकता। अन्तर का हाल जानने का सामर्थ्य मुझमें कहाँ? मैं तो उनकी बातों को सच ही समझता।

एक दिन वे न आये। सन्ध्या हो गई। सूर्य अपनी अन्तिम स्वर्ण-किरणों को अन्धकार के हाथ बेचकर विश्रान्त हुआ। मैं हाथ पर हाथ धरे बैठा था। पर विचलित न हुआ था। समस्त निर्मूल्य वस्तुओं को प्रतिदिन मनचाहे दामों पर बेच कर एक दिन बिक्री न होने पर असन्तोष होना अवश्य तो आता है।

फिर भी उन्हें लेकर घर लौटना मुझे भारी पड़ गया।

आज मैंने उन्हें वास्तविक मूल्य, निर्मूल्य, पर बेचने का उपक्रम किया, पर किसी ने भी न लिया। तब मैंने उन्हें वहीं बिखरा दिया और अपनी आँखों, प्रकृति को उन्हें सस्नेह अपनाते देखा।

# निरुद्देश निर्माण की सफलता

मैं एक सूखी नदी के किनारे निरुद्देश बैठा था। जी घबराने लगा तो मैंने इधर-उधर फैले पत्थर के ढोंके उठा उठा कर उसमें इस पार से उस पार तक रखना प्रारम्भ किया। कुछ समय तक यही काम चला। अन्त को मैं, थक कर विरत हुआ।

आज, बरसात में, वह नदी वेग से बह रही है। कगारे पर के वृक्ष प्रथम क्षण में हिलते, दूसरे में झुकते, और तीसरे में धार में बहते दिखाई पड़ते हैं। पानी प्रतिपल बढ़ता आ रहा है, पर मुझे उस पार जाना आवश्यक है। और आज मुझे वही निरुद्देश रखी हुई पत्थर की पंक्ति सेतु का काम देती है।

## असम्भव

मैंने तुमसे जो कार्य्य अपने ऊपर लिया है एक ओर तो उसे पूरा करना मेरा कर्त्तव्य है और उसे मुझे पूरा करने की जल्दी भी पड़ी है, दूसरी ओर उसका करना मुझे असम्भव जान पड़ता है।

जितना बड़ा यह काम है उतना ही छोटा मैं हूँ, औत्सुक्य के मारे मेरा हृदय उछल रहा है।

अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?

तुम कहते हो—"असम्भव का नाम न लो, इस सम्भव विश्व में असम्भव कहाँ।" मैं निरुत्तर हो जाता हूँ और नतशिर होकर प्राणपण से काम में लग जाता हूँ।

## संस्कार

हिमालय की चोटियों पर मुझे अमूल्य रत्न बिखरे हुए दीख पड़े। मैं उन्हें बीनने लगा। कुछ घड़ी दो घड़ी का काम तो था नहीं, कितने ही दिनों में मैंने सारे रत्न बीन पाये।

अब? अब लालसा प्रबल रूप धारण करके संस्कार में परिणत हो गई थी। मुझसे, उस समय बिना बीने बन न पड़ता था। पर वहाँ कुछ रत्न तो पड़े न थे, मैं धुन में शिखर के पत्थर ही बीना करता था।

देवताओं को मेरी दशा पर दया आती थी। एक दिन उन्होंने कहा ही तो—क्यों उद्देश-रहित होकर उपल-खण्ड सञ्चित करते हो? इस संस्कार ने मेरे हृदय का इतना भाग अपना नीड़ बनाने के वास्ते खोखला कर डाला था कि वह इस कथन को गुरुता सँभाल न सका। क्रोध से मैंने उत्तर दिया—आकाश-मण्डल में नक्षत्र भी तो निरुद्देश घूम रहे हैं, उनसे क्यों नहीं पूछते?

इसी समय मेरे कान में एक भनक पड़ी—पर क्या तुमने यह काम निरुद्देश होकर प्रारम्भ किया था?

मेरा मोह भंग हुआ।

# महत्ता

उन्नत आकाश-स्थित दिनकर पानी के निम्नग स्वभाव की ओर तनिक भी ध्यान न देकर उसे अपने करों से उठाकर हृदय पर स्थान देता है और अपने राग से रंजित, सरस नील नीरद कर देता है, एवं इन्द्र-धनुष का मुकुट पहना कर तथा पवन के पालने पर बिठा कर, उस मराल-मुक्ता-माल्य-मण्डित, चपला-पीताम्बर-धारी घन को घनश्याम का उपमान बना देता है।

इतना ही नहीं, वह उसे इस योग्य कर देता है कि वह अपनी शीतल स्निग्ध छाया के नीचे सन्तप्त संसार को सुखी करे और पृथ्वी पर भूरि-भूरि जीवन-वर्षा करे।

हे प्राणवल्लभ, इसी भाँति तुम भी मेरी नीचता की ओर न देखकर अपनी उच्चता से, करुण-कर पसार कर इस क्षुद्र जन को अपनी छाती से लगा के, कुछ और ही बना देते हो।

# जगत् का पागल

तुम कुछ जानते हो ? सारा जगत् मुझे पागल कहता है ! और कहे कैसे न ? यदि मुझे उसका पूरा भरोसा होता तो मैं उसी मार्ग पर चलता। पर उसमें तो मुझे सहारा देनेवाला कोई है ही नहीं।

मुझे विश्वसनीय आश्रयदाता तो तुम्हीं मिले; इसलिए मैं तुम्हारे ही मार्ग पर चलता हूँ। जानते हो, सब स्वार्थी होते हैं।

पर तुम्हारे मार्ग में ऐसी क्या बात है कि उस पर चलने से मैं पागल कहा जाता हूँ। मेरे स्वामी, तुमने तो अपनी सभी रीति जगत् से उलटी रक्खी है। हे विश्वात्मा, ऐसा क्यों ? हे दयानिधे, मुझे बतला दो कि संसार को इस सुख से वञ्चित रखने की निठुराई तुमने क्यों की है।

# तुम्हारी माया

मैं तो अपना सर्वस्व तुम्हें दिखा चुका फिर तुम अपने को मुझसे क्यों छिपाते हो। क्या तुम्हें इसी में सुख मिलता है कि मैं तुम्हारे लिए उद्योग करूं और तुम बैठे बैठे देखो ?

किन्तु नहीं, मैं भूल कर रहा हूँ। तुम्हारा और मेरा सम्मिलन तो अनादि है। यह तो तुम्हारे मोहन मन्त्र का प्रभाव है कि मैं तुम्हें दूर समझता हूँ और मिलने का उपाय करता हूँ।

मैं विमल प्रभा के पास कितने काल लों रहा हूँ। परन्तु तुमने मेरी आँखों पर ऐसी पट्टी बाँध दी है कि अब यदि उसकी एक रश्मि भी उसमें पैठ जाती है तो मेरी आँखों में चकाचौंध होने लगती है। और उसे खोलने में तो मैं इतना डरता हूँ जिसका ठिकाना नहीं। तुम्हारे इन्द्र-जाल ने मुझमें यह संशय उपजा दिया है कि इसके खोलते ही आभा के के मारे मेरी आँखें फूट जायँगी।

तुमने मुझ पर न जाने कौनसा आवेश कर दिया है कि जिस रंग-पट्टी के पीछे के दृश्यों पर मैं जान देता हूँ उसी को हटाते डरता हूँ।

भला, इस सबसे तुम्हें कौन आनन्द मिलता है ?

# अभिसार

मेरा अभिसार भी कैसा अनोखा है।

भादों की अँधेरी रात है। काले-काले बादलों ने आकाश को आच्छादित कर लिया है, वे मानो अन्धकार में मार्ग न पाने से यहीं अटक गये हैं। बिजली तक का कहीं पता नहीं। क्या वह इन काले बादलों में ठंडी पड़ गई है या अन्धकार के मारे चञ्चला चपला को भी घन-पटल से निकलने का साहस नहीं ?

ऐसे समय में प्राणनाथ से मिलने निकला हूँ। न तो मेरे पास दीपक है न मुझे मार्ग मालूम है न उनका निवास-स्थान ही। पृथ्वी पंक-पूर्ण है, वह मेरे पैर पकड़ कर और प्रबल पवन पल पल पर, मेरे कानों में, मुझे ऐसा दुस्साहस करने को मना करता है।

पर मैं चल पड़ा हूँ।

प्राणेश कहीं बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनकी चिन्ता की प्रतिध्वनि मेरे हृदय में हो रही है, जो मुझे स्थिर नहीं रहने देती और सागर की ओर भागीरथी की भाँति मैं उनकी ओर आकृष्ट हुआ, चला जा रहा हूँ।

मुझे सूझ नहीं पड़ता पर मेरे पैर ठीक ठीक पड़ते हैं।

# अकस्मात्

यह पथ सुन्दर दृश्यों से घिरा हुआ है। सुहावने स्निग्ध सघन वृक्ष अपने करों को इस पथ पर छाया किए हुए हैं। पर मेरा ध्यान सबकी ओर नहीं जाता। मैं अपनी धुन में आगे बढ़ता जाता हूँ।

कब मैं चला, कब प्रातःकाल का स्वागत पक्षियों के कोमल और मधुर कण्ठ ने किया, कब दोपहर की सूचना पवन की सनसनाहट ने दी, कब स्निग्ध पत्तियों को अपने करों से स्पर्श करके उन्हें अनुराग से किसलयों के सदृश बनाता हुआ सूर्य विदा हुआ, मुझे कुछ मालूम नहीं। अब उसके विदा होते ही नभस्सर में लाखों नलिनी खिल उठीं, कब चन्द्रमुखी रजनी आई, इसका भी ज्ञान नहीं।

अकस्मात् मुझे रोमाञ्च होता है। मैं पुलकित हो जाता हूँ। प्रस्वेद-कण के आविर्भाव से मेरा शरीर चन्द्रचुम्बित चन्द्रकान्त की भाँति हो जाता है। तब मानो मेरी आँखें खुलती हैं और मैं अपने को तुम्हारी बाहों में, तुमसे चुम्बित होता हुआ, पाता हूँ।

## दुरुपयोग

जब मैं तुमसे विदा होने लगा तब तुमने प्रेमपूर्वक मुझे अपना लीला-कमल, स्मृति-चिन्ह में दिया।

जब मैं बढ़ता हूँ तब मुझे ऐसा भासित होता है कि यह तो चक्र है, जिसके सहस्रों आरों की चमक से मेरी आँखों में चकचौंध हो रही है।

मार्ग सघन था। कितने ही वृक्ष आनन्द से झूमकर झुक रहे थे। पर मैं अपने गर्व में कहता कि ये मार्ग-अवरोध का उपक्रम कर रहे हैं। और उन्हें चक्र से काट देता।

अब मैं तुम्हारे मन्दिर के पास पहुँचकर, असमंजस में पड़ा हुआ, रुक गया हूँ।

तुमने तो मुझे अपना लीला-कमल दिया था, मैं तुम्हें स्मृति-चिन्ह चक्र किस मुँह से दिखाऊँगा।

# अपना, पराया

काँटेदार झाड़ को देखते ही मैं काटने पर कटिबद्ध होता हूँ। पर गुलाब, केवड़ा और कमल भी तो काँटेदार हैं, फिर मैं उन्हें नष्ट क्यों नहीं करता? उल्टा जी जान से उनकी सेवा करता हूँ। क्या उनके क्षणभंगुर फूलों पर मेरा इतना प्रेम है?

नहीं, सो बात भी तो नहीं। यदि पराई फुलवारी में उन्हीं गुलाब केवड़ा व कमल को मुरझाते देखता हूँ तो निश्वासपूर्वक माली को प्रमत्त कहने में मेरा इति-कर्तव्य हो जाता है।

अरे, यह कैसा ज्ञान है जो हम से ऐसे अज्ञानमय और संकीर्ण काम कराता है।

बुद्धि के अधिष्ठातृ देवता, क्या मेरी यह स्वार्थ-असंगत-बुद्धि ज्यों की त्यों बनी रहेगी?

# आनन्द की खोज

आनन्द की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा ? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चन्द्र की ओर से चकोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है ।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह-रहकर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूं, क्या मैं जगत् के बाहर हूं !

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनन्द-कन्द मुकुन्द इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणु मात्र भी न मिले ! हा ! आनन्द के बदले मैं रुदन और शोक को परिपोषित कर रहा था ।

अन्त को मुझसे न रहा गया । मैं चिल्ला उठा—आनन्द, आनन्द, कहाँ है आनन्द ! हाय ! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया । बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किन्तु मेरी आन्तरिक प्रकृति स्तब्ध थी । अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ । पर इसी समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा—क्या कभी अपने आप में भी देखा था ?

मैं अवाक् था ।

सच तो है । जब मैंने —इसी विश्व के एक अंश—अपने आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली ? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे ?

परन्तु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड में मिली ; जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड में न मिली थी वह अपने आप में मिली !

## वञ्चित

मेरे पास एक रत्न था। वह ऐसा नेत्र-रञ्जक था कि उसके देखने से जी न भरता था। मैं उसे दिन-रात देखा करता। पर किसी को दिखाता न।

ऐसी रञ्जक वस्तु को देखने से संसार वञ्चित रहे, मैं ही उससे बढ़ा रहूँ, इस भावना के अभिमान से मैं फूला न समाता था।

अन्त को एक दिन मेरा जी भर गया। मेरे लिए उसमें कोई नवीनता न रह गई और मैंने उसे राज-पथ पर फेंक दिया।

अब, जो उधर से निकलता वही उसे देखता रह जाता और भूरि-भूरि प्रशंसा करता। प्रत्येक जन उसमें एक न एक विशेषता निकालता और यही कहता कि इसके मालिक के भाग्य धन्य हैं।

मुझमें भी नई भावनाओं का आविर्भाव हुआ। बिलकुल भिन्न दृष्टि से उसे मैं देखने लगा और प्रतिक्षण मुझे उसकी वास्तविक नवीनताएँ मालूम होने लगीं। मेरे आनन्द की सीमा न थी।

रह-रहकर सोच होता था तो बस यही कि इतने दिनों इसे जगत् से छिपाकर मैं कितने आनन्द से वञ्चित रहा!

# श्लाघनीय स्वार्थ

मैं कैसे कहूँ कि तुमसे प्रेम करता हूँ।

अपने सुख की प्राप्ति के लिए, अपने को ही यातना से बचाने के लिए मैंने आत्मसमर्पण कर डाला है।

कोयल अपने बच्चों का पालन-पोषण कराने के लिए उन्हें दूसरे के नीड़ में रख आती है; कुछ अन्य पक्षियों को पुत्रवती बनाने के लिए नहीं।

तब तो मैं स्वार्थी और आत्मप्रेमी मात्र ठहरा। तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम कहाँ रहा, परन्तु जब तुम मेरे हृदय में पूछ बैठते हो कि क्या हम तुम भी हैं, तब मैं निरुत्तर हो जाता हूँ।

# कर्म्मों के अर्थ

तुमने अपनी मुरली की मधुर तान से मुझे मोह लिया और जो जो जी में आया मुझसे कराया। मैं ऐसा मोहित हो रहा था कि जो कुछ करना पड़ा उसका कुछ भी अर्थ न समझ सका।

संसार मेरे उन कर्म्मों का मनमाना अर्थ करता है। किसी को उनमें सौन्दर्य और सुक्ष्मता दिखाई देती है और कोई उन्हें बीभत्स और भद्देपन का नमूना समझता है। परन्तु जब उनका अर्थ मैं ही नहीं समझ सकता तब दूसरे क्या समझेंगे? तुम उनके नियन्ता हो, तुम्हीं उनके अर्थ जानो।

स्वामी, मुझे उनका अर्थ और हेतु समझने की दरकार नहीं। मुझे तो इस तान का चसका पड़ा है, वही सुनाते रहो और जो जो जी में आवे वही काम लो।

# स्वयम्

हाट का समय बीत जाने पर मुझे वहाँ जाने की सुध आई। कितनी ही आवश्यक वस्तुएँ लेनी बेचनी थीं। मैं विकल हो उठा।

अब क्या हो सकता। सन्ध्या बेला थी। प्रतीची ने दिन भर के थके माँदे सूर्य का स्वागत किया और उसने उसका आतिथ्य अनुराग से अंगीकार करके विश्राम लिया। सब अपना अपना काम करके लौट रहे थे। देख देखकर मैं तड़पने लगा। मेरी दशा बस वह पक्षी जान सकता है जो बसेरे के लिए अपने घोंसले को नहीं लौट पाता।

अब मेरी कुण्डी खड़की। मैंने द्वार खोल तो दिया, पर न जाने क्या बड़बड़ाते हुए।

लो, यह क्या ! स्वयं हाट के प्रधान, मुझे जो वस्तुएँ लेनी थीं उन्हें देने तथा जो बेचनी थी उन्हें लेने के लिए खड़े हैं।

# तुम्हारा पीछा

जिस प्रकार प्राची के कुङ्कुमाभ अनुराग का पीछा पार्वण चन्द्र, जिस प्रकार सुखद घटना का पीछा स्मृति, जिस प्रकार मेघध्वनि का पीछा मोर की कूक, जिस प्रकार प्रथम वर्षा का पीछा पृथ्वी का सुरभित उच्छ्वास और जिस प्रकार पर्वत-स्थली के सिंहनाद का पीछा प्रतिध्वनि करती है उसी प्रकार व्यर्थ मैंने तुम्हारा पीछा किया, क्योंकि मेरे देखते ही देखते तुम अदृश्य हो गये !

अस्तु, मैं हतोत्साह होकर बैठ गया। मेरी आँखें बन्द थीं। मैं तुम्हारे ध्यान में मग्न था। अकस्मात् पपीहा 'पी कहाँ, पी कहाँ' बोल उठा। जानें वह मेरा समदुःखी था या मुझे खिझा रहा था। चाहे जो रहा हो, मेरा ध्यान उचट गया। मैंने खिन्न होकर जिधर से उसका शब्द आया था उधर देखा। पर आश्चर्य ! देखता क्या हूँ कि तुम मेरी बगल में बैठे हो !

## सिंहावलोकन

सबेरा हुआ। दिन का आगमन जानकर तमो-भुजंगम उदयाचल की सुनहली कन्दराओं में जा छिपा। जल्दी में उसका मणि छूट गया। मैं भी तुमसे मिलने के लिए घर से बाहर निकल पड़ा। जिधर देखता, तुम्हारे चरण-चिह्न दिखाई पड़ते। मैं जाता तो किधर!

अन्त को मैंने सामने का मार्ग लिया। दोनों ओर सघन वृक्षों की पंक्ति खड़ी थी। नीचे सुकोमल दूर्वा बिछी हुई थी। मुझे चलने में थकान नहीं मालूम होती थी पर मन में कुछ भ्रान्ति सी हो रही थी। यही कि तुम्हें किधर पाऊँगा।

पत्तों के बीच में समीर मेरे कानों के समीप ही होकर निकल जाता था। उसका शब्द तो मेरे हृदय में पैठ जाता था पर अर्थ न बैठ पाता था।

यों मैं एक निर्जन कानन में जा पहुँचा। न तो उसकी सीमा दिखलायी पड़ती थी, न तुम्हारे पद-चिन्हों का अन्त ही।

तब मैंने घबरा कर एक बार ऊँचे स्वर से तुम्हें पुकारा। साथ ही मुझे जान पड़ा कि किसी ने मेरे कन्धों पर पुलकित करने वाले हाथ रख दिये। एक मीठी खिलखिलाहट भी सुनाई पड़ी। मैंने चौंक कर पीछे देखा, तुम कह रहे थे—एक [illegible] होता!

# मधुर मान

अहा ! यह सुख कैसा महान है। प्राणनाथ के मधुर मान का कारण मैंने जान लिया। हृदयेश ने किसी बात पर मान नहीं किया है। भला वे मुझसे कभी वाम हो सकते हैं ? उनके मान का एक मात्र कारण मेरे मनाने के हाव-भावों का आनन्द लेना है।

क्या यह अवसर सोच का है ? अरे मुग्ध, सुख में दुःख की भावना ! यह सुयोग तो परम भाग्य से प्राप्त हुआ है। इस समय तो अपनी मनाने की कला के आनन्द से प्लावित करके उन्हें और भी मोह लेना चाहिए।

## प्रमाद

तुम्हें लुभाने के लिए मैं खूब सज सजाकर घर से बाहर निकला। राजपथ पर भीड़ थी इससे मुझे रुकना पड़ा। लोग मेरी ओर देखने और सजावट की प्रशंसा करने लगे। भला, प्रशंसा किसे पागल नहीं कर देती? मैं भी अपना प्रकृत उद्देश भूलकर उन्हें अपनी सजावट दिखाने लगा। आनन्द से मेरा हृदय नाच रहा था।

यहाँ तक कि अभिमान ने मुझे अन्धा बना दिया। तुम भी आकर उसी भीड़ में खड़े हो गये और मुझे देखने लगे, पर मैंने तुम्हें न देखा।

सन्ध्या की भीड़ छंट गई और तुम्हारे दान के बोझ से दबे अंग टूटने लगे, तब मेरी आँखें खुलीं।

परन्तु अब हो क्या सकता था। हाय! इस दिखावे में मैं तुम्हें न देख सका।

# अधूरी याचना

तुम चाहे अपने चरण मुझे न चाँपने दो पर हे नाथ, मुझे उनकी धूल में लोटने से न हटाना। मुझे उसमें निरन्तर उसी भाँति सना रहने दो जैसे पद्म-पराग में मधुप और केतकी-रज में करिवर सना रहता है।

मैं कुछ यह नहीं चाहता कि तुम उस पर ध्यान दो। मुझे इसकी आकांक्षा ही नहीं। बस, मुझे इस अपार सुख से हटाना भर मत, इतनी ही याचना है।

## तुम्हारी रुचि

मैं तो तुमसे मिलने को अन्धकार में बैठा हूँ। तुम मेरे पास दीपक लेकर क्यों आते हो?

मैं तो तुमसे मिलने को सुनसान और एकान्त में भिखारी बना बैठा हूँ। तुम भूषण-रत्न करके और दल-बल में क्यों आते हो?

मैं तो तुमसे मिलने को सर्वस्व त्याग कर बैठा हूँ। तुम मेरे पास सब कुछ लेकर क्यों आते हो?

क्या तुम्हें भी दिखावा रुचता है?

## सन्ताप की शीतलता

हे प्रियतम, मैं अपने हृदय के ताप से तुम्हें कदापि व्यथित न करूँगा।

हे मेरे प्राण, भला मैं तुम्हें कभी कष्ट दे सकता हूँ? अथवा अपने कारण दुःखित होते देख सकता हूँ?

उसे और तप्त होने दो। वह ताप, मैं आनन्दपूर्वक सहूँगा। मेरा आनन्द इस कारण दूना हो जायगा कि मैंने तुम्हें व्यथित न होने दिया। और जब वह पिघलकर आँखों से बहेगा तब मैं उन ठंढे आँसुओं से दिन-रात तुम्हारे पादाम्बुज सींचूँगा!

## अभाव में आविर्भाव

मैं अपने प्रलाप का गर्व कैसे न करूँ, जिसने तुमसे मेरा संलाप कराया है, और मैं अपने अनमिल जीवन को कैसे अहोभाग्य न समझूँ, जिसने मुझे तुमसे मिलाया है।

मैं अपनी अन्धता को कैसे न सराहूँ, जिसने मुझे विश्व-चक्षु देकर छिपा मार्ग दिखाया है, और मैं अपनी अकिञ्चनता को कैसे धन्य न समझूँ, जिससे मुझे परम निधि प्राप्त हुई है।

मैं अपने रुदन पर कैसे नाज़ न करूँ, जिसने मुझे यह गान सिखाया, कि मैंने उसे वशीभूत और मुग्ध कर लिया है, जिसकी चाह मात्र मेरे जीवन की एकमेव वासना थी।

# अनादि संगीत

कौन कहता है कि संगीत अस्थायी कला है? देखो तो, अनन्त में तुम्हारा प्रत्येक स्वर निरन्तर लहरा रहा है। पत्ता पत्ता उसे ताल दे रहा है।

तुम्हारे विश्व के किसी भी अंश में यदि किसी समय ताल, स्वर और नृत्य, देखने में, बन्द हो जाता है तो वह अंश मृत समझा जाता है। भला तुम्हारे इस सरस संगीत बिना यह विराट् साम्राज्य चल कैसे सकता है?

तुम मुझसे कहते हो कि मैं तुम्हारे गान पर विह्वल और विमुग्ध न होऊँ। यह कैसे हो सकता है?

इस एकान्त सघन कुञ्ज में तुम गा रहे हो। चारों ओर सरोवरों में कमल फूल रहे हैं। गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच बीच में प्रफुल्ल बेले की कलियाँ हैं, मानो नवेली प्रकृति के सौंधे ओठों में दशन-दीप्ति दमक रही है। भ्रमर मँडरा रहे हैं। परन्तु सब स्तब्ध हैं। तुम्हारे गान के जादू ने उन्हें मोहित कर रक्खा है।

पर मैं ही शान्त नहीं हूँ। शान्त कैसे रहूँ। न जाने कैसे तुम मेरी हृदय-गाथा जान गये हो और उसी को गा रहे हो। मेरा मन तो मरोर मरोर उठता है। फिर मैं विह्वल और विमुग्ध कैसे न होऊँ?

आज मेरे अहोभाग्य हैं। तुम्हारे गान की बदौलत मेरी हृदय-गाथा अनन्त में निरन्तरता और चिरन्तनता पा रही है।

प्राणेश, तुम मेरे हृदय की समस्त गाथा इसी प्रकार गा डालो।

## तुम तो मेरे पास हो

मैं कुटी बन्द करके आसन पर सगर्व बैठा था। उस कुटी को मैं विश्व समझता था और अपने को उसका महाराज। अपने मद में मैं चूर था।

न जाने कैसे तुम भीतर आ गये। मन्त्र-मुग्ध की भाँति आसन का एक कोना मैंने तुम्हारे लिए छोड़ दिया। तुम बैठ गये। मैं धीरे धीरे खसकने लगा। उस पर तुम्हारा अधिकार बढ़ने लगा। मैं भूमि पर आ गया। तुम आसन पर पूर्णतः आसीन हो गये।

मैं निर्निमेष नयनों से, अवाक् होकर, तुम्हारी सुन्दरता निरखने लगा। मुझे उसमें प्रतिक्षण नवीनता मिलने लगी। इधर मेरे हाथ तुम्हारे पाँव पलोटने लगे।

अकस्मात् प्रचण्ड पवन चलता है। कुटी हिलने लगती है। घनघोर घटा घिरकर बरसने लगती है। विद्युत्पात होने लगते हैं। प्रलयकाल उपस्थित होता है। पर मैं अशान्त, विचलित या भीत नहीं होता हूँ। क्योंकि तुम तो मेरे पास हो।

# जागृति

हे नाथ, मुझे उस लोक में जागृत करो जहाँ मैं सारे संसार के दुःख को अपने ऊपर ले लेने के सुख में मस्त हुआ विचरूँ। निखिल विश्व का ताप जहाँ मेरे रक्त की ऊष्मा बनाये रक्खे और अनन्त विश्व-वेदना मेरे संगीत की सामग्री बने।

जहाँ एकमात्र तुम्हीं मेरे संगी हो, और सब प्राणियों की कामना मुझमें एकत्र होकर तुम्हें प्रणाद करने की शक्ति दे।

जहाँ भुवन का भुवन मेरा भवन हो और ससीम जीवन के बदले असीम जीवन पाकर मैं तुम्हारे साथ नित्य नई क्रीड़ा किया करूँ।

## समय की सहायता

जिस समय तुम देखते हो कि सूर्य की ज्वाला बरसाने वाली रश्मियों से संसार भस्म हुआ चाहता है, उस समय तुम अपनी करुणा से द्रवित होकर मेघ रूप में बरसकर सारी पृथ्वी को जीवन प्रदान करते हो। उसी प्रकार जब तुम देखते हो कि सन्ताप से मेरा हृदय भस्म हुआ चाहता है, उस समय तुम मेरी आँखों से सावन-भादों की झड़ी लगा देते हो और मेरा हृदय शीतल हो जाता है।

जिस समय तुम देखते हो कि विशालकाय गजराज किसी परम लघु उद्वेग से हारकर विचलित हो रहा है, उस समय तुम उसके गण्डस्थलों से मद बहाने लगते हो और वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। उसी प्रकार जिस समय तुम देखते हो कि मेरा मन क्षुब्ध हो रहा है और क्रुद्ध सागर में पड़े पोत सी मेरी दशा हो रही है उस समय तुम मेरे आँसू बहाने लगते हो और मैं शान्त हो जाता हूँ।

## मिलन बेला

प्रियतम से मिलने की बेला आ गई।

रागवती उषा आकाश से मिलकर उसमें लीन हो रही है, और सौभाग्य-सूर्य का उदय हो रहा है।

दिनकर के लिए पद्म अपना हृदय खोल रहे हैं, भ्रमर गान कर रहे हैं और निस्तब्ध पवन तरंगित हो रहा है।

संसार प्रमुग्ध है और प्रियतम खड़ा हुआ है। चलो, मिलने का ऐसा अवसर भला कहाँ मिलेगा?

## चुम्बन

दिन भर मैं उनके लिए अपने को सजाने और गर्वपूर्वक दर्पण में देखने में लगा रहा।

सन्ध्या हुई और सूर्य के वियोग में प्रकृति निस्तब्ध हो गई। सारे दृश्य बदल गये। मैं भी थककर सो गया।

वे कृपापूर्वक आये पर ममता के कारण मुझे जगाया नहीं। केवल मेरा चुम्बन किया और चल दिये।

उस कोमल चुम्बन से मेरी कठोर निद्रा भंग हुई। मैं आँखें मलकर चकित-सा देखने लगा। उनके चरणों की चाप सुनाई पड़ती थी। मैंने उनके पीछे दौड़ना चाहा। पर चुम्बन ही के आनन्द में मैं इतना विह्वल और कृतकृत्य हो रहा था कि मेरे पैर न उठे।

## त्वरा

प्राणेश के लिए प्रस्तुत होकर मैं आँगन में बैठा हूँ। मेरे हाथों में सजी हुई आरती का थाल है। पर अभी तक वे आये नहीं।

जिसे समाचार देने को भेजा था वह भी नहीं लौटा। समय चला जा रहा है। आरती के दीपक मन्द पड़ते जा रहे हैं। क्या जानें कब वे बुझ जायँ।

माला के फूल एक एक करके खिल रहे हैं और उनकी सुगन्ध को पवन चुराये लिये जा रहा है। नूपुरों के घुँघरू बज-बजकर एक एक करके झड़े जा रहे हैं। कुछ ही समय में वे नीरव हो जायँगे।

चित्त की मञ्जुल भावनाएँ उद्वेग बन-बनकर विनष्ट होती जा रही हैं। पर अब भी समय है। मैं ही उनके पास क्यों न चलूँ।

## अनन्त संगीत

मैं अपने गीत सुनाने की याचना करता हुआ, संसार भर में घूमा। पर किसी ने सुनने की अभिलाषा प्रकट न की। मेरा एकमात्र उद्देश्य था प्रशंसित होना।

अन्त को मैं निराश होकर घर लौट रहा था कि राजपथ में एक नवीन सजीवता आ गई। सुना कि सम्राट् आ रहे हैं। मैं वैसा ही खड़ा रह गया। देखता क्या हूँ कि वे पाँवपियादे मेरी ओर आ रहे हैं। पास आ जाने पर नम्र होकर मैंने आज्ञा पूछी। वे हँसकर बोले—"सखे, मैं तुम्हारे पीछे सारे संसार में घूमा हूँ, पर तुम्हारा तो ध्यान ही मेरी ओर न था। इससे अब तक तुमसे अपनी यह याचना न कर सका कि मुझे अपना गान सुनाओ।" याचक से याचना! जिसके लिए सारे संसार ने मुझे विमुख किया उसकी याचना स्वयं सम्राट् करें। अहोभाग्य।

पुलकित होकर मैंने गान आरम्भ किया। प्रेम के मारे मेरा कण्ठ भर रहा था; इससे मैं प्रति पद पर रुकता था। मुझे सँभालने के लिए सम्राट् ने मेरा साथ दिया। उनके सब-नीरव-निर्घोष-निस्तब्ध निनाद में मेरा स्वर मिलकर समस्त ब्रह्माण्ड में गूँज उठा। सारे अण्ड पिण्ड उसी की प्रतिध्वनि करने लगे।

तब सम्राट् ने धीरे से कहा—"यह प्रतिध्वनि तो अनन्त काल तक होती रहेगी। आओ, हम तुम चलें।"

# अभिमान

मैं महाराज की वाटिका में फिर रहा था। देखता क्या हूँ कि एक जन सुमन चुन रहा है। मैंने क्रोध और दर्प से कहा—जानते नहीं, यह महाराज की वाटिका है। यहाँ ऐसा दुःसाहस तुमने कैसे किया? वह बेचारा निरुत्तर हो गया। और, उसके कम्पित करों ने उन फूलों को मेरे चरणों पर गिराकर मुझसे क्षमा सी माँगी। पर मेरा क्रोध शान्त न हुआ। मैंने विकृत स्वर में कहा—फिर इधर आने का नाम न लेना। वह चुपचाप चला गया।

वह तो गया, पर मेरा क्रोध न गया। मैं बड़बड़ाता हुआ महाराज की ओर चला। चलने को तो मैं चला, पर उस क्रुद्धावस्था में भी, मेरे हृदय में कोई पूछ रहा था कि तुम भी तो उसी श्रेणी के हो। आज महाराज के कृपापात्र हो जाने से उसका यह निरादर! महाराज तुम पर मोहित हुए सही, पर तुम्हारे जान-बूझकर कोई हाव-भाव करने से थोड़े ही। तुम भी तो कुछ ऐसा ही कृत्य करते थे। महाराज ने उसमें न जाने कौन सी अदा देखी कि तुम्हें अपना लिया। किंवा, तुम डरते हो कि तुम्हारा पद न छिन जाय, अतः यह सारी लीला कर रहे हो। मैंने कुछ ध्यान न दिया। कहा—ऊँः यह तो हृदय-दौर्बल्य है।

क्रोध का भार न सँभाल सकने से मैं लड़खड़ाता हुआ उन तक पहुँचा।

किन्तु—मुझे काटो तो खून नहीं। मैं निष्प्राण पाषाण-प्रतिमा की भाँति वहीं निश्चल रह गया। अरे, यह तो वही उस वेश में वहाँ गये थे, अब यहाँ बैठे हैं!

पर वे निराकुल थे। सरल, सस्मित भाव से उन्होंने कहा—अच्छे रहे! एक तुच्छ परिहास भी न समझ सके!

## सुख

सम्राट् की सभा जुड़ी। सब अपने-अपने आसन पर आसीन हुए। केवल मैं ही न गया था। सोचा था कि इतने समारोह में किसका ध्यान जायगा।

सम्राट् भी सिंहासन पर आ विराजे। यदि पूर्णचन्द्र के साथ नभोमण्डल के सब तारे भी जगमगायें तो उस शोभा की उपमा मिले।

एक बार दृष्टि दौड़ाकर उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को देख लिया और मुझे न पाकर पूछने लगे।

दूत दौड़ाये गये। मुझे सम्राट् के सौन्दर्य निरखने का काम सौंपा गया था। विगत सभाओं में मैंने उनकी जो छटाएँ देखी थीं उन्हीं को चित्राङ्कित कर रहा था।

मुझे बाँधकर दूतों ने सम्राट् के सामने उपस्थित किया। दण्ड में आज्ञा मिली कि अब तुम अहर्निशि मेरी छटा निरखा करो।

## प्रहरी

सारी रात मैं जागा हूँ। नींद का गुरु भार मेरी हलकी पलकें नहीं सँभाल सकतीं। रात भर पहरा देते देते मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और अन्धकार में दृष्टि की समस्त शक्ति एकत्र करके देखने से मेरी आँखें थक गई हैं।

इस परम निधि के रक्षण का भार मेरे ऊपर था और उसे सफलतापूर्वक पूरा करने का मुझे हर्ष और अभिमान है।

अब समस्त संसार जागृत है। न कहीं तम है, न चोर-चाई का डर। तनिक तनिक से भी खटकों को, समस्त निशा, सुनने के लिए मेरे कान पूर्ण रीत्या लगे रहे हैं। इसलिए वे सुस्ता रहे हैं और सारे संसार का कोलाहल भी उन्हें चौंका नहीं सकता।

अब मैं सुख से सोऊँगा।

## प्रतिफल

आधी घड़ी मैंने सोना चाहा था। पर, अब मैं उठ कर देखता हूँ कि यह तो सन्ध्या हो गई। सब समय सोने में नष्ट हुआ। सोने के पहले जैसे मुझे उससे अनुराग था उसी प्रकार इस समय प्रकृति को सोने से अनुराग है और कुछ काल में वह भी मेरे समान तिमिराच्छन्न हुआ चाहती है।

सम्मुदित होने वाले सरोजों के साथ साथ मित्र-मण्डल भी संकुचित हो रहा है।

मेरे सहयात्रियों की कितनी ही वस्तुएँ मेरे पास हैं पर बिना पूछे वे उन्हें ले नहीं गये। अब सारी रात उनकी रक्षा करके प्रातःकाल जैसे बनेगा उन वस्तुओं को मुझे उन तक पहुँचाना पड़ेगा।

## जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति

जब मैं जागता रहता हूँ तब मेरा मन सोता रहता है और प्रियतम के स्वप्न देखा करता है।

जब मैं निद्रित होता हूँ तब मेरा मन जाग जाता है और उनके साथ विहार करने लगता है तथा मैं उसके सुखद स्वप्न का आनन्दोपभोग करता हूँ।

परन्तु जब सुषुप्तावस्था आती है तब तो मैं और मेरा अन्तःकरण दोनों ही तद्रूप हो जाते हैं। क्योंकि उस समय प्राणेश के गाढ़ालिंगन का सुख मुझे मेरे सर्वस्व सहित मूर्छित कर देता है।

मेरी एकान्त कामना है कि मैं निरन्तर उसी दशा में रहूँ।

# अभीष्ट आदेश

इन मालाओं का मेरे आदर करने से क्या लाभ, तुम्हारी और अपनी रुचि का अन्तर मैं क्या जानूँ ?

फूलों के कुछ पौधों की सेवा मुझे सौंपी गई है। अतः मैं जी-जान से अपने कर्तव्य में लगा रहता हूँ। एवं उनके फूलों को तोड़कर मैं ये मालाएँ बनाता हूँ।

मैं माला बनाने में अपनी कोई कला उठा नहीं रखता। अपने स्वार्थ से ही ऐसा कहता हूँ। तुमसे पुरस्कार लेना है न !

माला भरी डाली लेकर मैं तुम्हारे सामने वैसे ही प्रणत होता हूँ जैसे प्रपात, सुमन लेकर, पर्वत के पद पर गिरता है।

नाथ, तुम्हें इनमें से जो हार रुचे उसे लेकर, पुरस्कार में मुझे वैसी ही माला नित्य भेंट करने की आज्ञा दो।

## सङ्कीर्ण पथ

मुझसे तो इस मार्ग पर नहीं चला जाता।

चारों ओर स्निग्ध, श्यामल दूर्वादल-मण्डित मैदान के रहते भी इस रूखी-सूखी और ऊबड़-खाबड़ पगडंडी पर चलना भला कोई बात है !

बहुत दिनों से चलती रहने के कारण वह एक लीक सी बन गई है। उसके ऊँचे किनारों से टकराकर पैर चुटीले हो जाते हैं, और उन किनारों पर की ठूँठी घास बार बार खुभकर क्रोध से कहती है कि प्रान्तर से चलो और मुझे हरी तो होने दो।

यह पगडंडी इतना संकुचित है कि इसमें पैर सीधे और खुले पड़ते ही नहीं, पथिक बार बार लड़खड़ाता है एवं वेग से आगे नहीं बढ़ने पाता। कहीं यह इतनी है कि थोड़ी दूर चलने से ही पैरों में छाले पड़ जाते हैं।

जान पड़ता है, प्रशस्त प्रान्तर से ईर्ष्या करते ही यह टेढ़ी मेढ़ी होकर घूम गई है। जो हो, मैं तो खुले पैरों प्रान्तर प्रान्तर राज-भवन की सीध में चल पड़ता हूँ।

## स्वत: सिद्धि

उस महानद के एक सुनसान ऊँचे किनारे पर मेरी निराली झोंपड़ी थी। दूर दूर तक ऊँची नीची भूमि फैली थी, जिसमें कहीं कहीं वृक्ष उगे थे। एक विशाल वट-वृक्ष मेरे उटज पर छाया किए हुए था। उसकी सुदीर्घ शाखाएँ उस महानद तक पहुँचकर भी उसमें निमग्न इसलिए न हुई थीं कि उसके उज्ज्वल हृदय में अपनी छाया देखकर उन्हें जो आनन्द मिलता था उससे वे वंचित हो जातीं। और उसके सघन मूलों ने किनारे पर फैलकर मेरे लिए एक प्रशस्त घाट बना रखा था।

एक दिन मेरे पास दीपक न था। कृष्ण पक्ष था और रात्रि भी निकट आ रही थी। सन्ध्या की उदासी ने मुझे व्याकुल कर दिया और मैं पागल की भाँति कुटी के बाहर हुआ। मैंने किसी प्रकार, किनारे तक अपना शरीर-भार वहन किया और वहीं उसे पटक दिया। अन्धकार बाह्य प्रकृति को ही नहीं, मेरे अभ्यन्तर को भी आच्छादित कर रहा था। मेरी किंकर्तव्य-विमूढ़ दशा वर्णन करने के लिए कोई शब्द नहीं।

उसी समय मुझे नद में दूर तनिक सा प्रकाश दीख पड़ा। मैंने समझा कि किसी तारे की छाया होगी या जुगनू होगा। पर वह धारा के साथ मेरी ओर बढ़ा आ रहा था।

अहोभाग्य! यह तो दीपक है।

जहाँ मैं बैठा था वहीं धारा टकराती थी। अब मुझे चिन्ता न थी। वह दीपक अब इतना पास आ गया था कि एक क्षण में वह हाथ में पकड़ लिया जाता। पर इसी समय एक लहर उसे बुझा देती है। मेरे लिए फिर अन्धकार ही अन्धकार।

पुनः एक दीपक दिखाई पड़ता है। फिर मेरा हृदय उल्लसित होता है। पुनर्वार वह मेरे बहुत पास पहुँच जाता है और लहर उसे बुझा देती है।

सारी रात वही क्रम चला। प्रातःकाल जब उषा मेरे समान दुखियों का दुख दूर करने को आलोक लिए आती है तब एक टिमटिमाता दीप किनारे आ लगता है।

अब प्रशस्त प्रकाश फैल गया है और मुझे दीपक की आवश्यकता नहीं। पर मैं उसे सहर्ष उठाकर अपनी कुटी को लौटता हूँ।

## माला

ग्रीष्म की दोपहरी में मैं माला बनाने बैठता हूँ।

तटिनी अपने आश्रयदाता तटों को बार बार जलदान से तृप्त करना चाहती है, पर भगवान् अंशुमाली उसे छीन लेते हैं।

वृक्ष अपने लम्बे लम्बे रीते हाथ उठाये इन्द्र से वर्षा की प्रार्थना कर रहे हैं।

ताप से बचने के लिए प्राणी निद्रा का आश्रय लेते हैं। उस समय नीरवता से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन-स्रोत भी गरमी के मारे सूख गया।

ऐसे समय में माला बनाने बैठता हूँ। क्योंकि न तो मुझे किसी का संकोच करना पड़ता है, न मेरा मन विचलित करने के लिए कोई कोलाहल है, न कोई टोकने वाला।

इन पुष्पों को मैंने इन्हें प्रबोधित करनेवाले प्रभात काल में तोड़ा था। तब से, इस ऋतु में! इन्हें मैंने अपने प्रेमाश्रुओं से सींच-सींचकर टटका और हिम-सदृश शीतल परन्तु जीवितोष्मा-पूर्ण बनाये रक्खा है।

एकाग्र एवं निस्संकोच भाव से मैं इन्हें गुण में पिरोता जाता हूँ। उधर उनकी सिचाई ज्यों की त्यों जारी है।

मुझे जल्दी पड़ी है कि जिसके निमित्त यह विडम्बना है उसके गले में इसे डालकर कब कृतार्थ हो जाऊँ।

# तुम स्वयं आ रहे हो

मेरा मन ऊबने लगा, मुझे चलने की चिन्ता हुई। समय काटना भारी हो गया। एक एक करके मैंने अपने सब उपकरण समेटे और उन्हें बाँधा।

निश्चिन्त होकर मैं इष्ट-मित्रों से विदा हुआ। उनकी आँसू भरी चितवनों ने मुझे तनिक भी विचलित न किया। वरन चलने का समय ज्यों ज्यों निकट आने लगा त्यों त्यों मेरी प्रसन्नता बढ़ने लगी। क्योंकि तुम्हारे पास पहुँचने की लालसा प्रबलतम थी।

पर यह क्या? जब चलने का समय आया तब मेरा हृदय क्यों अकुलाने लगा। मेरा मन क्यों विचल गया। मेरे पैर बेड़ी में जकड़े से क्यों हो गये। देखता क्या हूँ कि तुम स्वयं आ रहे हो!

# उद्देश की सफलता

प्रातःकाल मैं वाटिका में पहुँचा। चिड़ियों के चहचहे, भौंरों की गुंजार और कलियों की चटकाली के सम्मिलन से वहाँ अपूर्व संगीत हो रहा था। सुरभित पवन उसी संगीत की गत पर अपनी चाल साधकर चल रहा था। बालातप भिन्न भिन्न रंगों के फूलों पर पड़कर नये नये रंगों की रचना कर रहा था। मैं उद्देश-हीन होकर फूल चुनने लगा। मेरी टोकरी भर गई। तब मैं माला बनाने बैठा। इसमें भी कोई उद्देश न था। पर, कह नहीं सकता, शायद मुझे मालाकारी का गर्व रहा हो।

दोपहर के साथ सूर्य की किरणें प्रखर हुईं। पर वाटिका के कोमल कुसुमों पर उनका असर न हुआ। क्योंकि उनकी सुकुमारता स्वाभाविक थी। बीच बीच में कोयल की कूक से वाटिका की निस्तब्धता भंग होने लगी। अब धीरे धीरे लोग आने लगे और मुँहमाँगा मोल दे-देकर मेरी मालाएँ ले जाने लगे।

सन्ध्या हो चली। पूर्व का सूर्य पश्चिम में आ गया। उदयकाल को जिस अनुराग से उसने अंगीकार किया था अस्तकाल को भी उसी अनुराग से अपनाया। पक्षी अपने अपने नीड़ों को लौटने लगे। सुप्त शिशु के मुँह पर जिस तरह हँसी झलक आती है उसी तरह दिन बीत गया। शिखर को जिस भाँति धीरे धीरे कुहरा आच्छादित करता है उसी भाँति अँधेरा बढ़ने लगा। मेरी टोकरी कभी की खाली हो चुकी थी पर न जाने क्यों मैं अब तक वहाँ बैठा था।

इसी समय वे आये और मुझसे माला माँगने लगे। मालाओं से टूट-टूटकर टोकरी में पड़ी हुई पंखड़ियों को मैंने भक्त की भाँति इकट्ठा किया और मन्त्र-मुग्ध सर्प की नाईं उन्हें अर्पण किया। उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया। तत्काल ही मुझे वहाँ आने और रहने का उद्देश मालूम हो

गया। चूम कर वे बोले—'तुम्हारे पास तो देने को इतना भी था, मेरे पास तो इसके सिवा कुछ नहीं'। मुझे आत्म तक विस्मृत हो गया और मैं उसी चुम्बन-सुधा के अथाह सागर में निमग्न हो गया।

# प्रतिबिम्ब

निर्मल, नील आकाश में विमल धवल चन्द्र स्निग्ध गति से चल रहा है।

नाले की यह विस्तीर्ण घाटी उसके मृदु प्रकाश से आलोकित हो रही है। प्रत्येक सैकत-कण में सजीवता सी आ गई है।

दूर दूर पर अकेले वृक्ष खड़े हैं, जिनकी छाया चन्द्रमा के साथ अपनी गति बदल रही है। उन पर बैठे पपीहे कभी कभी, उनकी आत्मा की भाँति बोल उठते हैं।

गुंजार करते हुए भृंगी इधर उधर उड़ रहे हैं और उनके पारदर्शी पंखों से छन छन कर भूमि पर पड़ने वाली चाँदनी की सुषमा का क्या कहना!

यह लो, चन्द्र पीयूष-वर्षा करने लगा, और समस्त घाटी उमंग से भर गई।

भृंगी उसकी मन्द धारा पर बैठकर कुछ दूर तक बहने का खेल करके प्रसन्न हो रहे हैं। बालक असमय ही में, अपना अन्न छोड़कर, उछल रहे हैं और स्वयं चन्द्र इस स्वर्गीय दृश्य पर मोहित होकर, प्रतिबिम्ब के मिस से, उन्मत्त उसमें आन्दोलन कर रहा है।

पर क्या यह दृश्य वास्तव प्रकृति का है?

## रुचि

देवता के उस मन्दिर में जहाँ पूर्ण राजस विभव है, यदि मुझसे कोई गाने के लिए कहता है तो मैं स्वीकार नहीं करता। लाख लाख आग्रह करने पर भी मैं अपने हठ से नहीं हटता।

पर उस देव-मन्दिर में जहाँ बहुत दिनों से कोई आता जाता भी नहीं, अर्चा की कौन चर्चा, जो जीर्ण होकर भग्न हो रहा है, प्रकृति दयापूर्वक काई से जिसकी मरम्मत किया करती है, जिस पर छाया करने वाले वट-वृक्ष की भी कमर झुक गई है और जिसके सामने का सरोवर जाने कब का सूखा पड़ा है, केवल पानी से सड़ी और दीमकों की खाई उसकी काठ उसके अस्थि-पंजर सदृश अब लौं खड़ी है, उस देवालय में बिना किसी के कहे, स्वयं अपनी इच्छा और प्रसन्नता से, अश्रु-अर्घ्य-प्रदानपूर्वक अपनी हृदय-तन्त्री की उत्तम से उत्तम और करुण से करुण तान सुनाकर मैं कृतार्थ होता हूँ।

## स्थान

एक दिन मैंने तुमसे घर बनाने के लिए स्थान माँगा। पार्षदों को आज्ञा हुई कि इसे उचित और रमणीक स्थान दिखा कर मेरे पास ले आओ। जो इसे रुचेगा, दिया जायगा।

मैं पार्षदों के संग चला।

पहले वे मुझे पर्वत-शिखर पर ले गये। बोले—"कैसा उत्तम स्थान है। दूर दूर तक के रमणीय दृश्य यहाँ से दिखाई पड़ते हैं। वह देखो, सम भूमि पर की नदियाँ और जंगल कैसे भले मालूम होते हैं। मानो वसुन्धरा ने अपनी अलकों को मोतियों की लड़ों से अलंकृत किया है। क्षितिज में रंग-बिरंगे बादल उसकी साड़ी की भाँति शोभित हो रहे हैं। वह, पश्चिम दिशा दिवाकर को अनुरागपूर्वक निमंत्रित कर रही है और वह उसे नत होता हुआ सादर स्वीकार कर रहा है। चारों ओर देखते रहिए, और प्राणपूर्ण पवित्र पवन पान करते जाइए, पर जी नहीं अघाता।"

अब वे एक कन्दरा के पास ले गये—"अहा! इस भूमि को तो देखो। प्रकृति ने मानो इसे सारे संसार से छिपाने के लिए हरियाली में छिपा दिया है। ये निर्झर अपने हिमकणों से यहाँ छिड़काव किया करते हैं और ये पुष्प इसके पथ पर फैले हुए हैं। त्रिविध समीर को इस स्थान से इतनी लगन है कि वह इसे छोड़कर जाता ही नहीं। इसके बीच में यह कन्दरा स्थित है। पर इसमें दोष यही है कि यहाँ तुम्हीं तुम रहोगे। अपने सिवा और दृश्य नहीं देख सकते" उन्होंने कहा।

इसी प्रकार अनेकों स्थान दिखाकर वे मुझे तुम्हारे पास लाये। तुम्हारे पूछने पर मैंने कहा—"प्रभो, मैं तो कन्दरा लूँगा। जहाँ मैं अपने अहंकार में मस्त रह सकूँ और अन्य चिन्ता न होने से आत्मरति रखूँ।

यों तो पर्वत-शिखर मुझे बहुत रुचा। पर वहाँ हृदय की अशान्ति और बढ़ती है। जैसे जैसे नये और, दूर के दृश्य दिखाई पड़ते हैं वैसे वैसे गोचर के प्रस्तार की कामना बढ़ती जाती है, और—"तुमने बीच ही में रोक कर कहा—"तो आओ, मेरी हृदय-दरी में रमो।"

## दूत-आगमन

तुम्हारे दूत की प्रतीक्षा में कितनी देर से रुक रहा था। अपना संदेसा भेजने की मेरे हृदय में मरोर उठ रही थी। और, अपने संदेसे को वह बार-बार बनाकर बिगाड़ रहा था। जो भावना उठती थी उसमें जी न भरता था। यही होता था कि इससे भी बढ़ा हुआ संदेसा हो। इसी तर्क-वितर्क-मयी कल्पना के आनन्द में मैं निमग्न हो रहा था।

तुम्हारा दूत आ पहुँचा। पर यह क्या, मैं उसे देखते ही अपनी सारी कल्पना और सब संदेसा भूल-भालकर यही पूछता हूँ—कहो, प्रियतम ने कुछ कहा है।

## आकर्षण

दयामयी प्रकृति ने थके-माँदे संसार के विश्राम के लिए उजाला दूर हटा दिया है और नीरवता फैला दी है।

मैं भी दीपक बढ़ाकर अन्धकार में विश्राम कर रहा हूँ। यदि कहीं जुगनू भी चमक जाता है तो आँखों में आग सी लग जाती है। अचानक मेरा मन उस धुँधली लौ की ओर जाने को क्यों मचल उठता है जो इस विशाल नदी के उस सुदूर किनारे पर टिमटिमा रही है और जिसकी छाया सुवर्ण-मान-दण्ड का रूप धरके उसकी थाह ले रही है।

मैं अपने साज बाज समेटकर चुपचाप बैठा था। परन्तु यह क्या; इस कोमल स्वरावली के संग, जो निःस्तब्ध पवन पर हंस-गति से बढ़ रही है, मैं तान क्यों लेना चाहता हूँ? और उससे अपने साज क्यों मिला रहा हूँ?

# अशान्ति में शान्ति

कलपती हुई श्यामा भ्रमराली, स्वयंवरा कुमारी की भाँति इधर-उधर भटक रही है। जिस सुमन-वर की उसे खोज है, मिलता ही नहीं।

समीरण रसिक के सदृश इधर से उधर मारा मारा फिर रहा है। वह एक स्थान पर ठहरता ही नहीं। एक आमोद को हृदय से लगाकर कुछ ही क्षण बाद दूसरे को अपनाता है। किस आमोद को पाकर उसे चिरशान्ति मिलेगी, इसका पता ही नहीं।

पुष्करिणी, प्रमदा की भाँति अपनी तरंगों से, मर्यादा के बाहर जाना चाहती है। वह इस पद्म-वन के मधु से छकी ही नहीं। सरसा होकर भी वह रस के लिए क्षुब्ध हो रही है।

मचलने वाले बच्चे की तरह कोकिल कूकता है। इससे उसकी हृदय-वेदना कुछ देर को रुक जाती है। पर वह फिर खड़ी होती है और वह फिर हाय हाय कर उठता है।

परन्तु मैं अपनी खिड़की पर बैठा यह सब देख रहा हूँ और मुझे इस अशान्ति में पूर्ण शान्ति मिलती है।

## स्वार्थ

पाटल, मैंने तुमको इतने प्रेम से अपनाया। तुम्हें तुम्हारे स्वजनों से बिलगाकर छाती से लगा लिया। तुम्हारे काँटों की कुछ परवाह न की, क्योंकि तुम्हारी चाह थी।

कहाँ मेरा मन इसी चिन्ता में चूर रहता था कि तुम्हारी पंखुरियाँ दब न जावें। सारे संसार से समस्त चित्तवृत्तियाँ खिंचकर एक तुम्हीं में समाधिस्थ होकर रही थीं। कहाँ आज वही, मैं, तुम्हें इस निर्दयता, उदासीनता और घृणा से भूमि पर फेंक रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे रूप, रङ्ग, सुकुमारता और सौरभ सब देखते देखते नष्ट हो गये हैं।

कहाँ तो मैं तुम्हें हृदय का फूल बनाकर अभिमानित होता था, कहाँ आज तुम्हें पद-दलित करने में डरता हूँ कि कहीं काँटे न चुभ जायँ।

अरे, यह प्रेम कैसा! यह तो स्वार्थ है। क्या इसी का नाम प्रेम है? हे नाथ, मुझे ऐसा प्रेम नहीं चाहिए। मुझे तो वह प्रेम प्रदान करो जो मुझे भेद-बुद्धि-रहित पागल बना दे।

## बिदा

मित्रो, जब मैं तुम लोगों से विदा होने लगूँ तब मुझे परम प्रसन्नता से विदा करना। मुझे सच्चे जी से आशीर्वाद देना कि मैं अपनी भावना में सिद्ध होऊँ।

यदि तुम मुझे खुले जी से आज्ञा न दोगे तो मेरे पैर बंधे से पड़ेंगे, मेरा जी तुम में अटका रहेगा और मैं एकचित्त से अपने अभीष्ट में प्रवृत्त न हो सकूँगा। फिर उसकी सिद्धि की कौन आशा।

एवं, यदि तुम मुझे सच्चे जी से आज्ञा दोगे तो इसके मनःप्रभाव से मेरा हृदय और भी दृढ़ हो जायगा और मुझे निस्सन्देह सफलता होगी।

मित्रो, क्या तुम यह नहीं चाहते कि तुम्हारे दीन सखा की लगन पूरी हो जिससे उसे नित्य और निरन्तर तुम्हारी सेवा और संगति का सौभाग्य मिले?

## आँसू

मेरे आँसुओ, तुम मेरे हृदय ही में बने रहो, बाहर न निकलो।

बाहर आकर आँखों में बसी उस मञ्जुल मूर्ति को धुँधली न करो। हृदय ही में रहकर उसे धोया करो।

बाहर आकर संसार की रूखी हँसी का कारण न बनो। हृदय ही में रहकर उसे आर्द्र बनाये रहो।

बाहर आकर सूखी धूल के मिलने के लिए न गिरो। हृदय ही में रहकर उन पवित्र स्मृतियों को सींचा करो।

तुम मेरे परमनिधि हो, भावरत्नाकर हो—तुम मेरे हृदय में विरक्त न हो।

## हीरा

हीर, तेरे हीरक होने का क्या यही फल है कि तू वज्र बने और अपने साथियों से अलग हो। तू अपना वर्ण खोकर निवर्ण हो जाय और जैसी छाया पड़े वैसे ही रंग का दीख पड़े!

तू काटा छाँटा जाय और उस धनवान् के पाले पड़े जो तेरे समान रिक्त है!

नहीं, तू कोयला ही बना रह और दूसरों के लिए जलकर उन्हें ऊष्मा और प्रकाश प्रदान कर।

## वन पाटल

हे प्रकृति के पुत्र, प्रिय होने के कारण उसने तुझे अपने क्रीड़ा-कानन में स्थान दिया है।

कृत्रिमता में तू नहीं फूला।

तत्त्व तेरी सेवा में नियुक्त हुए हैं,—विशाल आकाश तुझ पर छाता लगाता है और उन्मुक्त पवन तुझे प्राण प्रदान करता है। सूर्य का कर्तव्य तुझे ऊष्मा पूर्ण वर्ण देना है और सजल जलद नम्र होकर तुझे रस अर्पित करता है। धरणी—पर्वतों की कठोर-हृदया धरणी—तक को तुझे अपने हृदय में स्थान देना पड़ता है।

शिशिर में, तुझे शीत से बचाने के लिए, तुषार तेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग को पुष्ट बना देता है, जिससे तू वसन्त आते ही लहलहा उठता है।

मधु-मक्खियाँ अपना मधुर गान सुनाती हुई तुझे अपने मधु बहाने वाले ओठों से प्रेमपूर्वक बार बार चूमा करती हैं।

न तुझमें आँखों को दुखाने वाला भड़कीला वर्ण है, न मस्तक को पीड़ित करने वाली उग्र गन्ध।

हे स्वभाव के सन्तान, न तुझमें गुलाब का सहज सौन्दर्य ढकने वाला पर्दा—पंखड़ियों का दल-समूह—ही है।

तुझमें कुल-वधुओं की सजावट है, पर बार-वधुओं की बनावट नहीं।

# पागल पथिक

'पथिक',—मैंने पूछा—'तुम कहाँ से चले हो और कहाँ जा रहे हो? तुम्हारी यात्रा तो लम्बी मालूम पड़ती है क्योंकि तुम्हारा तन सूख कर काँटा हो रहा है और उस पर का फटा वस्त्र तुम्हारे विदीर्ण हृदय की साख भर रहा है। श्रम से हारकर तुम्हारे पैर फूट-फूटकर रक्त के आँसू रो रहे हैं! यह बात क्या है?'

उसने दैन्य से दाँत निकालकर उत्तर दिया—'बन्धु, मैं अपना मार्ग भूल गया हूँ। इस संसार के बाहर एक ऐसा स्थान है जहाँ इसके सुख और विलास की समस्त सामग्रियाँ तो अपने पूर्ण सौन्दर्य में मिलती हैं पर दुःख का वहाँ लेश भी नहीं है। मेरे गुरु ने मुझे उसका ठीक पता बतलाया था और मैं चला भी था उसी पर। किन्तु मुझसे न जाने कौन सी भूल हो गई है कि मैं घूम-फिरकर बारम्बार यहीं आ जाता हूँ। और, मैं कभी न कभी वहाँ अवश्य पहुँचूँगा।'

मैंने सखेद कहा—'हाय! तुम भारी भूल में पड़े हो। भला इस विश्व-मण्डल के बाहर तुम जा कैसे सकते हो। तुम जहाँ से चलोगे फिर वहीं पहुँच जाओगे। यह तो पटाकार न है। फिर, तुम उस स्थान की कल्पना तो इसी आदर्श पर करते हो और जब तुम्हें इस भूल ही में सुख नहीं मिलता तब अनुकरण में उसे कैसे पाओगे? मित्र, यहाँ तो सुख के साथ दुःख लगा है और उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग में भी एक सुख है। जब तुम उसे ही नहीं पा सकते तब वहाँ का निरन्तर सुख तो तुम्हें एक अपरिवर्तनशील बोझ, नहीं यातना हो जायगी। अरे, बिना [illegible] के सुख कहाँ? तुम्हारी यह [illegible] मिथ्या और निस्सार है, और इसे छोड़ने ही में [illegible] कि तुम थक जाओगे।'

परन्तु उसने मेरी एक न सुनी और अपना [illegible] चलता बना।

## अव्यर्थ आवेदन

अकिञ्चन किसान, तू समझता है कि अपने क्षेत्रपति से तू ने जो आवेदन किया है उस पर उसने ध्यान भी न दिया होगा। सारी रात तू ने करवटें बदल-बदलकर काटी हैं और वेदना के मारे तू छटपटा रहा है। ऐसे महान के मन में ऐसी छोटी बात स्थान भी नहीं पा सकती, यही चिन्ता तुझे मारे डालती है।

कदाचित् तुझे यह ज्ञात नहीं कि ऐसी अनेक लघु याचनाओं के योग से वह गुरु बना है। तेरे जैसे जितने हैं उससे निवेदन करते रहते हैं और वह सबकी सुनता है एवं उन सब पर उचित विचार करना उसी का सामर्थ्य है।

बिना उसकी दया देखे ही कोई बात निश्चित न कर ले।

तनिक आँखें खोलकर देख तो। पानी के भार से नत मेघ की नाईं वह सर्वेश अपनी प्रजा को आच्छादित रखता है और जहाँ जितने की आवश्यकता होती है वहीं उतनी बूँदों के रूप में वह उच्च आकाश से भूपतित होता है।

क्या यही तेरा सौभाग्य नहीं कि तेरे आवेदन पर वह विचार करता है और तेरे [illegible] में नीचे उतर आता है।

तू इसका गर्व कर।

## मृग-मरीचिका

अरे, तू धैर्य क्यों नहीं धरता, चिन्तित होने की क्या बात है ?

जिस तृष्णा के कारण तू भटकता फिरता है वह यद्यपि बुझी नहीं है परन्तु उसके लिए भटकने में तुझे क्या सुख नहीं मिलता ?

जिस समय पखेरू अपने अधजले तरु-कोटरों में प्रचण्ड पिपासा को किसी प्रकार दबाकर पुट-पाक की तरह पक-से रहे हैं, उस समय भी तू जीवन के लिए इतनी दौड़ धूप कर रहा है, क्या यह थोड़ा है ?

जो तुझे इस मरुभूमि में लाया है, जिसने तेरे मृगनयनों के तारों में अपनी विमल ज्योति से समाकर तुझे यह मरीचिका दिखाई है, इस मरीचिका का कारण भी जिसका प्रकाश ही है, वही तेरी दारुण तृषा बुझाकर तुझे पार लगावेगा।

## सन्देह

जिस सौन्दर्य-सागर के एक कण से रंगे इन फूलों पर, इन रंग बिरंगे बादलों पर, इन पवित्र मुसकान से सुशोभित बालकों के भोले भाले मुखों पर, इन मनोहर पक्षियों की एक झलक पर जीव तन, मन, धन से निछावर हो जाता है, अरे मूढ़, उसी पर असत्य होने का सन्देह !

जिस विश्व-गायक के गान की तनिक सी झनकार झरनों के झर्झर में, पपीहे की पुकार में, केकी की कूक में, कोकिल की कुहू में, समीर की सनसनाहट में, समुद्र के घोर में, कपोत-कूजन में और घन-गर्जन में सुनकर [illegible] हो जाता है, उसी पर मूक होने का सन्देह !

जिस [illegible] के केन्द्र से उसकी एक किरण पाकर जीव में [illegible] कि वह ऐसे ऐसे महत्व के कामों का संगठन और सञ्चालन करता है और प्रकृति तक पर शासन करता है, अरे मूढ़ ! उसी पर अप्रतिभ और जड़ होने का सन्देह।

# अनुरोध

हे सजल जलद, क्षितिज के किसी अदृश्य कोने से उठकर तुम सारे नभामण्डल को छा लेते हो, आतप-सन्तप्त सृष्टि को छाया प्रदान करते हो और रस की बूंदें बरसाकर उसे तृप्त कर देते हो।

पर मैं तुमसे एक बात पूछता हूं। ये सहस्र-सहस्र शुक्तियां अपना हृदय खोले समुद्र पर उतरा रही हैं, तुम उन्हें अपनी दानबूंदों से वञ्चित क्यों रखते हो?

समझा, तुम उनके उज्ज्वल हृदय में अपनी छाया देखकर मूर्च्छित होते हो।

मेरा कहना मानो। एक बार उन्हें रस प्रदान करो, जो मोती बनें। और, तब उन मोतियों के स्वच्छ हृदय में दर्पण का काम लो।

जरा सोचो तो, उस महत्ता से तुम कितने गर्वित होगे।

# पूर्ण-चन्द्र

हे अमृत बरसाने वाले पूर्ण चन्द्र, हे संसार को शीतल करने वाले पूर्ण चन्द्र, हे कृष्ण-आकाश को उज्ज्वल करने वाले पूर्ण चन्द्र, हे सागर को आनन्दोन्मत्त करने वाले पूर्ण चन्द्र, हे दिन भर के व्यथित कमलों को विश्राम देने वाले पूर्ण चन्द्र, हे धरणी के कुमुद नेत्रों से देखे जाने वाले पूर्ण चन्द्र, हे उत्पल को द्रवित करने वाले पूर्ण चन्द्र, हे मल्लिका को हँसाने वाले पूर्ण चन्द्र, हे नर्तनी मे मनःसौन्दर्य पाने वाले पूर्ण चन्द्र, हे प्राची के शिरोरत्न पूर्ण चन्द्र, हे पृथ्वी को अपने करों से लपटाने वाले पूर्ण चन्द्र, हे चन्द्रिका का वितान तानने वाले पूर्ण चन्द्र, हे श्यामघन-पटल में झलमली किनार लगाने वाले पूर्ण चन्द्र, हे अंगार चुगाने पर भी चकोर को जीवित रखने वाले पूर्ण चन्द्र, तुम अमृत-वर्षा से मेरे मानस को भर दो और अपनी छाया द्वारा निरन्तर उसमें खेला करो।

मैं यही चाहता हूँ।

# तुम्हारे लिए

ग्राम के लोगों को बहुतेरी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती और वे माँगने मेरे पास आते। मैं द्वार बन्द करके बैठा रहता और वे खटखटाकर लौट जाते। दूसरे दिन, मार्ग में, यदि वे उलहना देते तो मैं कह देता कि "मैंने तो समझा था कि पवन होगा।"

यदि कभी भूल से कपाट खुले भी रह जाते तो उनके पैरों की चाप सुनते ही मैं व्याज-निद्रित हो जाता; या दिया बुझा देता। जब वे इसकी शिकायत करते तो कह देता कि—"दिन भर का हारा थका रहता हूँ, पड़ते ही सो जाता हूँ।" किंवा "चिन्तावश दीपक बालने की सुध ही न रही।"

अगर कोई और भी पक्का होता तो वह, जब जहाँ सामना होता, अपेक्षित वस्तु माँगता। पर मैं गिड़गिड़ा कर कह देता—"वह मेरे पास नहीं, घर देख लो। हाय! तुम्हारी सेवा करने से वञ्चित रहने का मुझे दुःख है।"

इस प्रकार संसार पर मैंने अपनी कपट-वृत्ति का दाव और व्यय करके अपने निष्कपट-भाव एवं सर्वस्व का रक्षण तथा पोषण किया है, जिससे आज मैं तुम्हारे सामने अपना सुरक्षित, शुद्ध हृदय से सञ्चित और परिवर्द्धित सर्वस्व लेकर उपस्थित हुआ हूँ।

## चिर समाधि

जिन आँखों ने बहुत कुछ देखा है उन पर तुमने परदा डाल दिया है। जो दृश्य उनमें बसे हैं वे निकल न जायँ, इसलिए उन्हें तुमने बन्द कर दिया है।

मेरे सम्पुटित हृत्कमल को तुमने प्रस्फुटित कर दिया है, और जो भ्रमर उसमें बँधकर गुनगुनाया करते थे वे उड़ गये हैं।

मेरे हाथ में जो दीप था उसे समीर बुझा चुका है अतः मैंने उसे अलग रख दिया है।

मेरी आँखें बन्द हैं, हृदय खुला हुआ, हल्का और नीरव है, तथा दोनों हाथ खाली हैं।

अब तो मैं उन्हीं दृश्यों के देखने में निमग्न हूँ।

## मृत्यु

मृत्यु ! तुझसे बढ़कर संसार में मेरा और कौन है; तू मुझे अनन्त जीवन प्रदान करेगी।

जब सारा संसार मुझे छोड़ देता है तब तू मुझे अपनाती है, और मुझे जर्जरित पिञ्जर से छुड़ाकर नये नये दृश्य दिखाती है।

आधि-व्याधि की असीम यातना से छुड़ाने के लिए तू ममता के मारे चिरशान्ति का विशाल वितान तानती है।

जब जब तू मेरे पास आई है तब तब मैं ललकाकर तुझसे मिला हूँ। और अपने प्रेम की पूरी परीक्षा दे चुका हूँ। तूने उसमें मुझे पक्का पाया है और फल में क्या इस बार तू सदैव के लिए मुझे बन्धन-विमुक्त कर देगी ?

## उद्धार

दुःख से उद्विग्न होकर मैंने निश्चय किया कि ऐसे जीवन से मरण भला।

पावस में नदी बढ़कर असीम हो रही थी। महानद भी उसकी प्रतिस्पर्धा न कर सकता था। उसके प्रबल वेग और तुमुल तरंगों का क्या कहना। मैंने अपनी नाव खोली और सोचा कि आज जल-समाधि लगेगी।

नाव पलक मारते धारा में पहुँची और वहाँ भँवर में चक्कर खाने लगी। लहर के थपेड़ों ने उसका पेंदा तोड़ दिया और शीघ्रता से उसमें पानी भरने लगा। अब मैं अधीर हो उठा। पानी में दम घुट कर प्राण निकलने की कल्पना को भी न सह सका।

आज मुझे जीवन का मोल ज्ञात हुआ। उसमें दुःख कहाँ? दुःख तो जीवन के अभाव में, अकर्मण्यता में है।

मैं कर्मों से भागता था अतः इतना दुःखित था। बाध्य होकर, किसी प्रकार शरीर-यात्रा करनी पड़ती थी, इससे तादृश दुःख नहीं जान पड़ता था, जितना आज उस यात्रा से विरत होने के प्रस्ताव मात्र से हुआ।

मैंने हृदय से चिल्लाकर तुमसे कर्म्म करने का प्रण किया।

जो सब शक्ति मुझमें न जाने कहाँ छिपी हुई थी, आज प्रकट हुई। और, मैं नाव को खेकर किनारे की ओर ले ही तो चला। वह किनारे लगी सही, पर इस बीच में वह मेरे आनन्दाश्रु से भर गई थी और तुरन्त ही उसमें निमग्न हो गई। इस शुभ रूप में मेरा अशुभ संकल्प पूरा हुआ।

आज मुझे पवित्र और शिव, कर्म्ममय जीवन मिला।

## समुद्र-तट

समुद्र-तट पर बैठकर मैंने क्या देखा ?

मेरे सब साथी डोंगियों पर बैठकर मोती निकालने चले गये थे, पर मैं आलस्य और कायरता से समुद्र-तट पर ही रह गया था।

एक तो मैंने यह देखा कि सागर प्रतिक्षण सौवर्ण-सैकत-वेला को अपनी तरंगों से सींचा करता है तो भी उसकी पिपासा नहीं बुझती।

दूसरे मैंने यह देखा था कि वह रत्नों के गजरे के समान, इन्द्रधनुष के वर्णों से रंजित, फेन-माला उसे पहनाया ही करता है; किन्तु देखते-देखते वह रुचिर माला अपना विचित्र वर्ण खो देती है और टूट-फूटकर उसी बालू में बिखर जाती है।

मैंने यह भी देखा कि चित्र-विचित्र सहस्रों शुक्ति-शंखों को वह तट पर छितरा देता है और कुछ ही क्षणों बाद उन्हें फिर बटोर ले जाता है।

परन्तु सबसे बढ़कर मैंने यह देखा कि मैं क्रीड़ावश सागर को कभी-कभी अपने हाथों से लहरा देता और समझता कि वे लीला-लहरियाँ उसकी लोल कल्लोल-मालाओं में उसी क्षण लीन हो जायेंगी किन्तु देखता कि उनका आन्दोलन क्रमशः मन्द होता हुआ भी ठेठ दूसरे तीर पर जाकर ही शान्त होता!

## आधाराधेय

हम कितनी ही वस्तुओं को शब्द द्वारा विचारते हैं और कितनी ही ऐसी हैं जिन्हें हम कल्पना-चित्रों द्वारा ही देख सकते हैं। परन्तु और भी कितनी ही ऐसी भावनाएँ हैं, जहाँ शब्द या दृष्टि की गति नहीं है परन्तु नीरवता और अदर्शन सदैव उन वृत्तियों में विहरते रहते हैं और हमें वे तभी ज्ञात होती हैं जब उनकी आवश्यकता पड़ती है।

विद्युदग्नि सदैव जलधर के साथ रहती है, पर उसे उसका ज्ञान नहीं रहता। संयोग से वह प्रकट हो जाती है।

यदि तुम न होते तो मेरा अगाध प्रेम कैसे प्रकट होता। क्या वह म्लान कलिका के सौरभ की भाँति मेरे ही संग नष्ट न हो जाता?

## क्रीड़ास्थल

जानते हो, नींद के खेलने का स्थान कहाँ है ? बच्चों की उन खिलवाड़ी आँखों में जो समदर्शी हैं और जिनमें अलौकिक प्रेम भरा है जो समग्र विश्व को स्वर्गीय दृष्टि से देखती हैं और जिनसे आनन्दमय मुसकराहट की किरणें सदा फूटा करती हैं।

जानते हो, पवन ने अपने खेलने के लिए कौन स्थान चुना है ? उन उपवनों में जहाँ उसके पहुँचते ही हर एक कली खिल उठे और उसे अपने आमोद से भर दे। जहाँ वह मधुपान से झूमता हुआ और लताओं के अटपटे जालों में अटकता हुआ एवं उनसे पुष्पांजलियाँ पाता हुआ चल सके। जहाँ भ्रमरावली उसके आगमन से चंचल होकर उसका गुण गान करने लगे और जहाँ कमलरंजित सरोवर के कण उड़-उड़कर उसे शीतल एवं अनुरक्त करें।

जानते हो, चन्द्र ने अपने खेलने का कौन स्थान बनाया है ? उस निखरे नीलाकाश में जिसमें से उसका सौन्दर्य फूटा पड़ता है। जहाँ वह जगमगाती तारकाओं की प्रभा मन्द करता है। जहाँ तक पहुँचने का उद्योग चकोर बारंबार करता है पर न पहुँचकर आशा के सूत्र से जीवन धारण किये रहता है। और जहाँ से वह संसार मात्र पर अमृत बरसाता है।

नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है। जहाँ वे एक चट्टान से कूदकर दूसरी पर आती हैं। जहाँ वे ढोकों के संग खेल कूद मचाती हैं और छींटे उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं। जहाँ वे अपनी ओर झुकी लताडियों का हाथ पकड़-कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं। जहाँ उनके बाल-सखा धूप [illegible] अपनी [illegible] लहरियों में गुदगुदाते हैं और वे [illegible] सा उछलकर तथा [illegible] आती हैं। जहाँ वे [illegible] भाँति भाँति मन-माने गीत

गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं। और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूदकर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनती हैं।

और जानते हो, मेरे मानस ने अपने खेलने का स्थान कहाँ रक्खा है? जिनका विलास-स्थान भी मानस ही है उन चरण-कमलों में। जिन्हें मेरा मानस सदैव अपनी तरंगों से चूमा करे। जिनके मधुर मधुपान से यह छका रहे। जिनके पराग से यह पंकिल बने और जिनकी रतनारी छाया से यह रत्नाकर की छवि को मन्द करे।

## परावलम्ब और स्वावलम्ब

पपीहा कैसा सुन्दर राग अलापता है। कोयल का कुहू कूजन कैसा कमनीय है। परन्तु उनका यह क्रम नित्य क्यों नहीं चलता? पपीहे ने अपने सुख को बादल के हाथ बेच रक्खा है। जब घन-पटल ऊर्ध्व आकाश को आभूषित करता है तभी उसके सूने मन पर भी भाव-पटल उमड़ते हैं और उन्हें वह अपनी तान से व्यक्त करता है। बादल बरस गया, पपीहे का गान भी हवा हो गया।

कोयल का हृदय वसन्त से अनुरक्त है। ऋतुराज ने सज-धजकर अपना रूप दिखाया और उसने अपनी हृदय-गाथा सुनानी शुरू की। इधर ग्रीष्म ने उसका राज्यापहरण किया, उधर वह अपना मन मारकर मौन हो बैठी।

पर उषा की यह बात नहीं। वह स्वयं रागवती है। वर्षा हो या शरद, वसन्त हो या ग्रीष्म, उसे सब बराबर। वह तो अपने रंग में मस्त है। नित्य अपना हृदय अनन्त विश्व के सामने खोल रखती है और उसी के आनन्द में विलीन हो जाती है।

## काम बन्द करने का समय

दिन बीता, सन्ध्या आ गई। प्रकृति ने आकाश पर जो कुङ्कुम चढ़ाया था वह उसके भाल पर गुलाल फैलाकर जाने कहाँ अदृश्य हो गया और अब वह, प्रकृति, उस पर चारों ओर बुक्का छींट रही है। यह काम बन्द करने का समय है।

भू-मंडल पर प्रकाश की परिधि प्रतिक्षण संकीर्ण होती जा रही है और अन्धकार की धुँधली छाया उदासी बढ़ा रही है। दिन भर का श्रान्त पक्षि-मंडल अपने नीड़ो को लौट रहा है। क्या यह काम बन्द करने का समय नहीं है?

पर यह हो कैसे सकता है। क्या इस निरन्तर कर्मशील प्रकृति में कोई भी किसी क्षण अकर्मण्य रह सकता है?

वह लो, मेरा मित्र आ रहा है। अन्धकार में से उसकी दीप्त देह निकली पड़ती है। बस, मैं अब यही काम करूँगा कि अपनी दिन भर की करनी पर उसके संग विचार करूँ।

हरि ॐ तत्सत्